नृपति पुरूरवा ने अप्सरा उर्वशी के रूप-माधुर्य पर मुग्ध होकर उससे प्रणय की याचना की। उसने नृपति का पत्नीत्व स्वीकार करने के लिए कुछ शर्तें प्रस्तुत कीं। पुरूरवा ने उर्वशी की सभी शर्तें स्वीकार कर लीं और वे दोनों पतिपत्नी के रूप में रहने लगे। इस प्रकार कुछ समय बीता। परन्तु गंधर्वों को यह प्रणय पसंद न था। उन्होंने ऐसी लीला की कि पुरूरवा की ओर से शर्तें टूट गईं और उर्वशी गंधर्व-लोक चली गई। राजा उसके विरह में बड़ा दुःखी हुआ और वह वन-वन भटकने लगा। एक दिन उसने कुरुक्षेत्र के सरोवर में अन्य अप्सराओं के साथ उर्वशी को देखा। राजा को शोकाकुल देखकर उर्वशी ने कहा, "राजन् मैं गर्भवती हूँ। एक वर्ष बाद आना। मैं तुम्हें पुत्र भेंट करूंगी।" इस पर प्रसन्न होकर पुरूरवा अपनी राजधानी को लौट आया। समय पर उर्वशी ने उसे 'आयु' नामक पुत्र भेंट किया। फिर नृपति ने गंधर्वों को भी प्रसन्न कर लिया और यज्ञ द्वारा उर्वशी भी उसे प्राप्त हुई।

यही कथानक राजस्थानी 'बात' में भी सहज ही देखा जा सकता है। 'वीरमदे सोनगरा' विषयक बात[1] के प्रारंभ में यही कथानक परिवर्तित रूप में द्रष्टव्य है। वहां अप्सरा कान्हड़दे का पतीत्व शर्त के साथ स्वीकार करती है। समय पाकर उसके वीरमदे नामक पुत्र उत्पन्न होता है। फिर शर्त टूट जाती है और अप्सरा चली जाती है। इसी प्रकार पाबूजी राठौड़' सम्बंधी बात[2] में शर्त के साथ अप्सरा धांधलजी का पतीत्व स्वीकार करती है और पाबू नामक पुत्र पैदा होता है। फिर शर्त टूटती है और अप्सरा आकाश में उड़ जाती है। ये दोनों बातें आगे विस्तार को प्राप्त करती हैं परन्तु इनके नायकों के जन्म का प्रसंग सहज ही पुरूरवा और उर्वशी का स्मरण करा देता है। प्राचीन कथानक का 'आयु' ही इन बातों में 'वीरमदे' अथवा 'पाबू' बन गया है। इस प्रकार लोकमुख पर अवस्थित यह पुरातन-कथा राजस्थानी बातों में सर्वथा राजस्थानी बन कर प्रकट हुई है। बातों के पात्र ऐतिहासिक हैं परन्तु उनके जन्म के अलौकिक प्रसंग सर्वथा ऊपरी एवं कल्पित है, जो उनको गौरव प्रदान करने के लिए वस्तु के साथ जोड़ दिये गये हैं।

२. पद्म पुराण (भूमि खण्ड) में महाराजा इक्ष्वाकु और सूकर-सूकरी की कथा दी गई है। वहां इस उपाख्यान को 'पुराना इतिहास' कहा गया है। अतः वह कोई प्राचीन लोककथा हो सकती है। उसका सारांश इस प्रकार है—

---

१ द्रष्टव्य, 'राजस्थानी बातां' (सम्पादक, श्री सूर्यकरण पारीक)।
२ वही।

एक बार मनु-पुत्र महाराजा इक्ष्वाकु अपनी पत्नी सुदेवा को साथ लेकर गंगा के तटवर्ती वन मे शिकार खेलने के लिए गए । वहाँ एक बलवान शूकर अपनी पत्नी, पुत्र, पौत्र एव बान्धवों सहित रहता था । महाराजा के आने की खबर सुनकर वे युद्ध के लिए तैयार हुए और कोई भी भागकर नहीं गया । युद्ध हुआ जिसमे दोनों ओर के कई योद्धा मारे गए और कई भाग भी छूटे । परन्तु शूकर अपने पुत्रों सहित रणक्षेत्र मे डटा रहा । अत मे महाराजा की गदा के प्रहार से उसका प्राणान्त हो गया । देवताओं ने उसपर पुष्पवृष्टि की और वह विष्णु के श्रेष्ठ धाम को प्राप्त हुआ । अब शूकरी और उसके चार पुत्र शेष रहे । उसने तीन छोटे पुत्रों को वहाँ से रवाना कर दिया और स्वय बड़े पुत्र के साथ युद्ध भूमि मे जमी रही । फिर युद्ध हुआ । शूकरी का पुत्र मारा गया और वह घायल हो गई । महारानी सुदेवा ने उसके पास आकर उसपर पानी छिड़का तो वह मनुष्य-वाणी मे बोलने लगी । पूर्वजन्म के कर्म के प्रभाव से वे शूकर-शूकरी के रूप में प्रकट हुए थे । अब उनका पाप नष्ट हो गया और शूकर के समान वह भी विमान में बैठकर परमधाम वैकुंठ को चली गई ।

राजस्थान मे 'डाढाळ एकलिंग री बात'[1] काफी प्रसिद्ध है । ध्यान से देखा जाय तो उसमे उपर्युक्त पौराणिक कथानक का राजस्थानी-रूपान्तर प्रकट हुआ है । महाराजा इक्ष्वाकु के स्थान पर बात मे सिरोही का राजा बीसलदे [illegible] है । उसी प्रकार युद्ध होता है और अत मे शूकर-परिवार का एक सब से छोटा बच्चा वशरक्षा के लिए सुरक्षित स्थान पर भेज दिया जाता है तथा अन्य सब मारे जाते हैं । शूकरी सती होती है । यहाँ भी शापमोचन का प्रसग है । यह बात 'साको' करनेवाले राजस्थानी वीरों के जीवन से काफी मिलती है । इसका शूकर प्रतीकात्मक है । बात राजस्थान में अत्यन्त लोकप्रिय है । फिर भी इस कथानक की प्राचीनता स्पष्ट है ।

२ 'सुमन्त मिग जातक' की कथा मे एक मृग शिकारी के जाल मे फँस जाता है और उसकी मृगी उसके स्थान पर अपना प्राण देने के लिए शिकारी से प्रार्थना करती है । इससे प्रभावित होकर शिकारी मृग को मुक्त कर देता है । इसी प्रकार 'निग्रोध मिगराज जातक' की कथा में एक राजा मृगों को शिकार में तत्पर है । इससे मृगयूथ दुखी होकर प्रतिदिन एक मृग राजा को भेंट करने का निर्णय करता है ।

---

१ द्रष्टव्य 'राजस्थानी बात-संग्रह' (परम्परा विशे. ५) ।

राजा इस निर्णय को मान लेता है। अंत में 'नग्रिध मिगराज' की बारी आती है और राजा उसके शील से प्रभावित होकर हिंसा का त्याग कर देता है।[1]

इन दोनों जातक-कथाओं का संयुक्त रूप सहज ही एक राजस्थानी बात में देखा जा सकता है। 'ठगराज री बात'[2] में एक अवान्तर कथा दी गई है। उसका सारांश इस प्रकार है:—

एक राजा को शिकार का व्यसन था। वह मारता तो प्रति दिन एक हरिण था परन्तु अन्य हरिण इससे पीड़ित होते थे। अतः उन्होंने मिलकर प्रतिदिन एक हरिण राजा के दरवाजे पर स्वयं भेज देने की बारी बांध ली। तदनुसार एक दिन एक 'खोड़े' (लंगड़े) हरिण की बारी आई। उसे चलने में विलम्ब हो गया और वह रात को एक झाड़ी के नीचे ठहर गया। वहां एक हरिणी उसकी पत्नी बन गई और फिर वे प्रातः काल दोनों ही राजा के दरवाजे पर पहुंचे। वहां एक ने दूसरे के लिए प्राण देने का हठ किया। राजा एवं रानी ने भी यह तमाशा देखा। रानी ने महल में से अपनी दासी के हाथ राजा को झूठा संदेश भेजा कि वह (रानी) जलकेलि के तालाब में डूब गई है। राजा घबराकर महल में आया और बड़ा दुःखी हुआ। इसपर प्रकट होकर रानी ने वियोग की पीड़ा का मर्म राजा को समझाया। राजा ने हरिण और हरिणी दोनों को मुक्त करके शिकार करना सदा के लिए बंद कर दिया।

उपर्युक्त बात के कथानक में 'रानी' एक नया पात्र प्रकट हो गया है। अन्य प्रसंग जातक-कथाओं वाले ही हैं। कथानक में दाम्पत्य-प्रेम और अहिंसा की महिमा ज्यों की त्यों सुरक्षित है। रानी का प्रवेश इसमें विशेष रोचकता भरता है।

४. आवश्यक चूर्णि में एक बनिये की चतुर बहू की कहानी है। वह बनिया अपनी बहू को कुंएं में रखता है और यह आज्ञा देकर परदेश जाता है कि वह पीछे से उसके लिये एक गट्ठर कपास का काते और उसी के औरस तीन पुत्र पैदा करके वही उसे परदेश से लौटाकर भी लावे। साथ ही वह कुंएं से भी बाहर न निकले। वह चतुर स्त्री पहिले से ही तैयार करवाई हुई एक सुरंग के रास्ते से अपने पीहर जाती है। फिर वेश्या का

१ जातक, तृतीय खण्ड (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) पृ० २४३-२४७ और पृ० ४२४-४२८।

२ हस्तप्रति, अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर।

रूप धारण कर वह वहाँ पहुचती है, जहाँ कि उसका पति [बनिया] रहता है। वहां वह उसके तीन पुत्र पैदा करती है। कालान्तर में वह उसी के साथ लौट आती है और मार्ग में अपने पीहर ठहर जाती है। फिर सुरंग के मार्ग से अपने तीनों पुत्रों सहित कुए मे आ बैठती है। बनिया घर आकर उनको कुए मे से निकला हुआ देखता है।[1]

यही कथानक साधारण परिवर्तन के साथ 'साहूकार री बात'[2] का है। एक साहूकार परदेश जाते समय अपनी स्त्री के लिए पीछे से कई काम पूरे करने का आदेश देता है। प्रथम, वह पुत्र को जन्म देवे और शीलवती भी रहे। दूसरे वह बछेरे मगवा कर घोड़ों की पायगाह तैयार करावे। तीसरे, वह हवेली बनवा लेवे। इसके बाद वह परदेश चला जाता है। इन में दो कार्य कठिन न थे। वे रुपये खर्च करके करवा लिए जाते हैं। पुत्र पैदा करने के लिए साहूकार की स्त्री को गूजरी के रूप मे उसी नगर में जाना पड़ता है, जहां उसका पति गया हुआ है। वह उसे लुभाकर उससे गर्भ धारण करती है और फिर समय पर पुत्र सहित घर लौट आती है। जब साहूकार स्वय घर आता है तो उसे सभी काम पूरे मिलते हैं। उसकी स्त्री, गूजरी का वृत्तान्त प्रकट करके उसे चुप कर देती है।

इस कथानक पर ध्यान देने से स्पष्ट ही यह काफी पुराना सिद्ध होता है। इसका ठाठ ज्यों का त्यों आज तक बना हुआ है।

५ कथासरित्सागर के लावाणक नामक तृतीय लम्बक में 'प्रव्राजकस्य वानरस्य च कथा' दी गई है। इस कथा मे एक मौनी मठाधीश एक सेठ के घर भोजन करने के लिए आता है और उसकी परम रूपवती कन्या पर आसक्त हो जाता है। वह सेठ से कहता है कि वह कन्या उसके लिए घातक है, अतः अपनी रक्षा हेतु उसे एक सदूक में बंद करके नदी मे बहा दिया जावे। सेठ डरकर ऐसा ही करता है। महत उसे प्राप्त करने के लिए अपने शिष्यों को आज्ञा देता है कि गंगा में एक सदूक बहती हुई आएगी, उसे सीधे ही उठाकर उसके पास ले आया जावे। सदूक नदी में बहती है। सयोग से एक राजकुमार उसे देखकर खोलता है और उसमें से निकली हुई रूपवती कन्या से स्वयं विवाह कर लेता

---

१ द्रष्टव्य, 'दो हजार वर्ष पुरानी कहानियां' (डा० जगदीशचन्द्र जैन), प्रथम संस्करण, पृ० ७५-७६

२ राजस्थानी [त्रैमासिक], जनवरी १९४० ।

है। उसके साथ वाली संदूख में एक बंदर को बंद करके पानी में बहा दिया जाता है। अंत में संदूख महंत के पास पहुंचती है। वह उसे एकान्त मे खोलता है और बंदर के द्वारा अपने नाक-कान आदि नष्ट करवाकर हँसी का पात्र बनता है।

'गोदावरी तीर रो जोगी'[1] नामक बात की कथावस्तु भी यही है। उसमें पानी में बहती हुई संदूख को नदी-तट पर कपड़ा धोनेवाले धोबी देख लेत हैं और वे रूपवती कन्या को राजा के पास ले जाते हैं। राजा कन्या से पीछे का पूरा वृत्तान्त सुनकर उसके साथ विवाह कर लेता है और संदूख में उसी प्रकार एक बंदरी को बंद करके उसे पानी में बहा दिया जाता है। इस बंदरी के द्वारा आगे चलकर महत की दुर्गति होती है।

स्पष्ट ही 'वात' में पुराना कथानक लगभग ज्यों का त्यों चला आया है। इसमें धोबी का प्रसंग जुड़ गया है, जो स्वाभाविक ही है। कथानक शिक्षाप्रद है—

रूड़ी कीयै रतन फळ, बुरो बुराई लद्ध।
साह कुंअरी राजा घरे, जोगी माकड खद्ध ॥

६. कवि भीम प्रणीत 'सदयवत्सवीर प्रबन्ध'[2] में तुम्बन नगर का वृत्तान्त अपने आप में एक स्वतंत्र कथा है उसका सारांश इस प्रकार है:—

राजकुमार सदयवत्स के तीन मित्र थे। उनमें एक बनिया, दूसरा क्षत्रिय और तीसरा ब्राह्मण था। वे चारों तुम्बन नगर का कौतुक देखने के लिए आए। वहां एक सेठ बहुत समय पहले ही मर जाने के बाद भी रात को अपने घर सशरीर आता था। राजकुमार सदयवत्स ने मृतक सेठ को जलाने की व्यवस्था करने के लिए कुछ धन लेना निश्चित किया और वे चारों उसके शव को श्मशान में ले गए। वहां चारो मित्रो ने बारी-बारी से पहरा देना तय किया जिससे कि प्रात काल उसे जला दिया जावे। पहला पहरा बनिये का था। उसकी एक सिकोतरी से भेंट हुई। पहरेदारने उसका हाथ काट कर रख लिया और वह भाग गई। दूसरे पहरे में ब्राह्मण ने एक राक्षस को मारकर एक राजकुमारी की रक्षा की। तीसरे पहरे में क्षत्रिय ने भूतों को मार भगाया और सात बंधे हुए राजकुमारो को छुड़ाया। अंत

---

१ मरुवाणी (मासिक), भाद्रपद स० २०१०
२ सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट, बीकानेर का प्रकाशन

में सदयवत्स ने शव में प्रविष्ट वैताल को द्यूत में हराकर शव को जला दिया। फिर प्रमाण देने पर उसे निश्चित धन मिला और सेठ की पुत्री भी उसे ब्याह दी गई।

'नानिग छावडा की वात'[1] की वस्तु भी यही है। उसमें चार छावडा राजपूत भाई नानिग, देवग अजसी और विजैसी नौकरी की तलाश में निकलते हैं और पोहकरण आकर ठहरते हैं। वहां एक सेठ का लडका मर गया था परंतु उसे जलाया नहीं जा सकता था। चारों भाइयों ने सेठ से कुछ धन लेना निश्चय किया और वे रात को वारी-वारी से मुर्दे का पहुरा देने लगे। फिर लगभग ऊपर वाली कहानी के अनुसार सभी घटनाएं इस वात में भी घटित होती हैं और राजा अपनी पुत्री का उसके साथ विवाह करके उसे पोहकरण का राज्य भी दे देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि सदयवत्स इस बात में नानिग छावडा बन गया है और उसके तीन मित्र नानिग के छोटे भाइयों के रूप मे प्रकट हुए हैं। कथानक का तांत्रिक प्रभाव ज्यों का त्यों है। तुम्बन नगर 'वात' में राजस्थान का पोहकरण हो गया है, जिससे वातावरण बनने मे बडी सहायता मिली है।

७ सोमप्रभ सूरि द्वारा विरचित (सं० १२४१) कुमारपाल प्रतिबोध में पशु-पक्षियों की भाषा जाननेवाली एक स्त्री की कथा है। उसका सारांश इस प्रकार है—

एक सेठ के बेटे की बहू आधी रात के समय एक गीदड की पुकार सुनती है कि नदी में बहनेवाले मुर्दे के गहने कोई स्यय ले लेवे और उसे मुझे खाने के लिए दे देवे। वह ऐसा करने के लिए छिपकर चुपचाप नदी पर जाती है और मुर्दे के गहने ले लेती है। लौटते समय उसका ससुर उसे देख लेता है और उसे असती मानता है। फिर वह उसे उसके पीहर छोडने के लिए ले चलता है। मार्ग मे एक कौआ बोलता है कि पेड के नीचे दस लाख की निधि गडी हुई है, उसे कोई निकाल लेवे और मुझे दही-सत्तू खिलावे। काकवाणी सुनकर वह स्त्री कहती है—

---

१ द्रष्टव्य, वरदा (वर्ष ७ अंक २)।

एकके दुन्नय जे कया, तेहिं नीहरीय घरस्स।
बीजा दुन्नय जइ करउं, तो न मिलउं पियरस्स ॥

बहू के इस वचन से उसका ससुर चकित होता है और वह पूरी बात उससे प्राप्त करके संतुष्ट हो जाता है।

'परंतप जातक[1]' में भी गीदड़ वाला प्रसंग लगभग ज्यों का त्यों मिलता है। तदनुसार एक राजकुमार समस्त प्राणियों की बोली समझ लेने के लिए मंत्र सीखा हुआ है। एक रात वह अपने महल में लेटा है। और एक गीदड़िन (मादा गीदड़) अपने दो बच्चों को साथ लेकर निकटवर्ती पुष्करिणी पर आती है। वह अपने बच्चों से कहती है कि एक व्यक्ति पुष्करिणी में डूबकर मरा है। उसके वस्त्र में एक हजार कार्षापण हैं तथा अंगुली में अंगूठी है। उसका मांस उनको खाने के लिए मिलेगा। इतना सुनकर राजकुमार उस मुर्दे के कार्षापण और अंगूठी निकलवाकर मँगवा लेता है और उसे गहरे पानी में इस प्रकार डुबवा देता है कि वह ऊपर न आ सके।

इन दोनो कथानकों में जातक का राजकुमार और सेठ के बेटे की बहू किसी अंश में समान ही प्रकट होते हैं। ऐसा विदित होता है मानों जातक-कालीन कथा का राजकुमार ही सेठ के बेटे की बहू बन गया हो।

'ठग राजा की बात' में यह कथानक कुछ विस्तार के साथ मिलता है। उसमें भी एक सेठ के बेटे की बहू जानवरों की भाषा जानती है और वहां भी गीदड़ तथा काग वाली घटनाएं दी गई हैं। राजस्थानी जनता में यह कथानक विशेष रूप से कहा-सुना जाता है। वहां सेठ के बेटे की बहू को मुर्दा खानेवाली डाइन के रूप मे राजा के सामने उपस्थित किया जाता है और वह काकवाणी सुनकर अपनी दशा प्रकट करती है, तब सारा भेद खुल जाता है। लोककथा में प्रयुक्त पद्य इस प्रकार हैं. जो समय-समय पर प्रकट हुए हैं—

कोक पढंती कामणी, जबुक सुगन विचार।
नंदी मे मुर्दो बवै, लाल जांघ में च्यार ॥ १ ॥
कोक पढंती कामणी, कागा सुगन विचार।

---

1 जातक, चतुर्थ खण्ड (हि० सा० सं० प्रयाग), पृ० ७३-७६।

इण रूखा की वड तळें, धरू गडी है च्यार ॥ २ ॥
कुछ करणी कुछ करमगत, कुछ पूरबला भाग ।
वो जबुक तो या करी, तू के करसी काग ॥ ३ ॥

यही कथानक 'दम्पति-विनोद'[1] की प्रथम कथा में 'धनमजरी' के नाम से मिलता है। उसके पद्य इस प्रकार हैं—

हू हू सबद जबक हुवो, जांघ नवरतन जाण ।
कोई चतुर समर्भ इसो, नावें मृतक प्राण ॥ १ ॥
श्री छडो भरतारो, प्रभक्ष भक्षय वाला ।
रने भय निवासो, हिवें कि करसि रे कावौ ॥ २ ॥
काग करूकं यू कहै, है वड तळें वित्त ।
बाधी धरां निकाळजें, तरगस टापू कित्त ॥ ३ ॥

इस कथानक मे प्रयुक्त पद्यों का रूपान्तर भी ध्यान देने योग्य है। समयानुसार इनका रूप भी बदलता रहा है।

८ श्री शुभशीलगणि विरचित विक्रमचरित्र ग्रन्थ में सम्राट विक्रमादित्य के पुत्र विक्रमचरित्र की कहानी विस्तार के साथ दी गई है। उसमे राजकुमार विक्रमचरित्र का अपने पिता से मिलने का प्रसग सक्षिप्त रूप में इस प्रकार है—

सम्राट विक्रमादित्य ने बडी चतुराई से एक विद्याधर के रूप में सुकोमला नामक राजकुमारी के साथ विवाह करने मे सफलता प्राप्त की और विवाह के बाद जब वह गर्भवती हुई तो उसे पीहर में ही छोडकर बिना सूचना दिए सम्राट उज्जन लौट आए। पीछे से सुकोमला के पुत्र पैदा हुआ और जब वह बडा हो गया तो सर्व विद्या ग्रहण करके अपने पिता से मिलने के लिए उज्जैन आया। उसका नाम देवकुमार रखा गया। देवकुमार एक वेश्या के घर सर्वहर चोर के नाम से रहा और उसने राजा के शयनकक्ष मे पलग के नीचे रखी हुई अमूल्य आभूषणों की पेटिका चुराली। अगले दिन से चोर को पकडने की चेष्टा हुई और इस प्रयास में क्रमश कोतवाल, महामन्त्री, चार वेश्याएं कोटिक जुआरी, राजा एव अग्निवेताल ने मुह की खाई। इनमें से सर्वहर चोर को कोई भी

१ सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर, का प्रकाशन।

पकड़ न सकता। अंत में राजा ने हारकर चोर को पकड़नेवाले व्यक्ति को अपना आधा राज्य देने की घोषणा की और देवकुमार (नर्बदर) अपने पिता के सामने आभूषणों की पेटिका लेकर उपस्थित हुआ। पीछे का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर विक्रमादित्य परम प्रसन्न हुए और पुत्र का नाम विक्रमचरित्र रखा।

लगभग यही कथावस्तु 'सरवहियै वीरमदे रै बेटै धनपाल री बात' में उपलब्ध है।[1] उसका सारांश इस प्रकार है:—

वादशाह ने एक नवाब को वीरमदे पर आक्रमण करने के लिए भेजा। वह शाही सेना के सामने ठहर न सका। युद्ध मे वीरमदे सरवहिया अपने साथियों सहित लड़कर मर गया और रानियों ने जौहर व्रत का पालन किया। एक छोटा बालक वंशरक्षा के लिए धाय के साथ वाहर भेज दिया गया। धाय ने बालक को बनिये का बेटा बतलाकर खेमपाल नामक सेठ के यहा शरण ली। खेमपाल ने बालक का पुत्र के समान पालन किया और उसका नाम धनपाल रख दिया। बड़ा होकर धनपाल अनेक विद्याओं मे निपुण हो गया। विशेष रूप से उसने सगीत विद्या का अभ्यास किया। जब उसे धाय से अपने पूर्व वृत्तान्त का पता चला तो वह वादशाह की राजधानी मे गया और वहां खेमपाल सेठ की हवेली मे उसके पुत्र के रूप मे रहने लगा। एक दिन दरवार मे उसने सगीत विद्या के ज्ञान से वादशाह को प्रसन्न कर लिया और फिर वहां वरावर आने-जाने लगा। अव उसने चौर-कला का चमत्कार दिखलाने का निश्चय किया और वादशाह के यहां वड़ी चोरी की। उसको पकड़ने की चेष्टा प्रारंभ हुई। क्रमशः चौकीदार, कोतवाल, नवाब और लखवाहु ने उसको पकड़ने के प्रयास में अपनी दुर्गति करवाई। अंत में वादशाह ने चोर को पकड़ने के लिए अपना आधा राज्य देने की घोषणा की। तव धनपाल उसके सामने स्वयं उपस्थित हो गया। वादशाह उसकी चतुराई से परम प्रसन्न हुआ और उसका पीछे का वृत्तान्त जानकर उसके पिता वीरमदे सरवहिया का राज्य उसे दे दिया।

इस कथानक से प्रकट होता है कि स्पष्ट ही एक लोककथा को जहां विक्रमचरित्र के साथ जोड़ा गया है, वहां इस 'वात' मे उसे ऐतिहासिक रंगत दे दी गई है। मूल रूप मे चीज एक ही है। लोककथाओं में एक वर्ग ठग, धाड़ी

---

1 हस्तप्रति (अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर)।

(डाकू) और चोरो से सम्बन्धित है। इस वर्ग की कथाओं मे चतुराई और साहस की विशेषता दिखलाई गई है। चोरो के कारनामें तो बड़े ही रंगीन हैं। प्रसिद्ध कथाग्रंथ 'दशकुमार चरित' मे भी चोर की चतुराई देखने लायक है। इस ग्रंथ का अपहारवर्मा ही कवि भीम प्रणीत 'सदयवत्सवीरप्रबन्ध' के एक भाग मे 'सदयवत्स' बनकर प्रकट हुआ है।[1] यही प्रवृत्ति प्रस्तुत कथानक के संबंध में ध्यातव्य है। यह कथानक राजस्थान में बड़ा लोकप्रिय है और 'डेढ़ छल की नगरी में ढाई छैल आयो है, ठगेगो, ठगावेगो नहीं' नामक लोककथा के रूप मे जनसाधारण मे कहा-सुना जाता है।

ऊपर आठ चुने हुए कथानकों के सम्बन्ध मे साधारण चर्चा की गई है। वसे यह विषय अति विस्तृत है और इस प्रकार के काफी अधिक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। परन्तु विस्तार भय से लेख को अधिक नहीं बढाया गया है। इन पर ध्यान देने से निम्न तथ्य सहज ही सामने आते हैं—

१ भारत मे लौकिक-कथानकों के संकलन की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है, जैसा कि ऊपर दिये गए वैदिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध तथा साहित्यिक ग्रंथो के उदाहरणों से स्पष्ट प्रगट है। इन ग्रंथो मे लौकिक-कथानको का उपयोग भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को लेकर किया गया है। कई कथानक पौराणिक पात्रों की जीवन कथा के साथ जुड़े हैं। लोक प्रचलित कहानियो को गौतमबुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बन्धित करके जातक-कथाएं बना ली गई हैं। जैन विद्वानों ने ऐसी कहानियों को जन-वातावरण मे प्रस्तुत करके उन्हें उपदेशात्मक बनाया है और जैन कथापात्रों को महिमान्वित करने का प्रयास किया है। साहित्यिक कथाग्रंथों को इन के द्वारा सरस और सुन्दर बनाने की चेष्टा हुई है। नीतिग्रंथो में उनका दृष्टान्त-रूप में प्रयोग हुआ है।

२ लौकिक-कथानको का उपर्युक्त विधि से प्रयोग करने की प्रक्रिया मे उनमे परिवर्तन भी किया गया है। कहीं यह परिवर्तन थोडा हुआ है और कहीं अधिक। कहीं कहीं कुछ नए पात्र भी इनमें प्रकट हुए हैं। नाम-परिवर्तन की प्रक्रिया सर्वत्र द्रष्टव्य है।

---

१. इस विषय में विशेष जानकारी के लिए 'वरदा' (७।१) में लेखक का 'सदयवत्सकथा एक विश्लेषण' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।

इसके साथ ही उपयोग के उद्देश्य के अनुसार उनका वातावरण भी बदल दिया गया है। इस प्रकार प्राचीन कथानक भी काल एवं स्थान विशेष के सर्वथा अनुकूल बना लिया गया है।

३. राजस्थान में प्रचलित अथवा लिपिबद्ध कथानकों की संख्या काफी बड़ी है और वे ऊपरी तौर पर देखने में पूर्णतया राजस्थान के ही प्रतीत होते हैं परन्तु ये सभी कथानक राजस्थानी न होकर उनमें अनेक परम्परागत भारतीय-कथानक हैं, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट प्रकट होता है। यह स्थिति भारतीय संस्कृति की एकप्राणता की परिचायक है। इस प्राचीन देश के सुदूरवर्ती प्रान्त भी भीतर से एकात्म हैं और यह उनकी भावात्मक-एकता का निदर्शन है। इसी प्रकार भारत का अतीत और वर्तमान आपस में जुड़े हुए हैं और साथ ही 'लोके वेदे च' (अर्थात् जो वेद में है, वही लोक में भी है) सिद्धान्त का प्रतिपादन तथा प्रकाशन होता है।

४ लौकिक-कथानकों के परिवर्तन की प्रक्रिया दो विधियों में सम्पन्न हुई है। प्रथम विधि समय और स्थान के अनुसार अपने आप पूर्ण हो गई है। इस प्रकार जन-साधारण ने उनको स्वयं अपने अनुकूल-वातावरण में उपस्थित कर लिया है। इस विधि की सम्पन्नता के पीछे किसी व्यक्ति विशेष की चेष्टा न होकर सामूहिक प्रयत्न है। इस विषय में उदाहरण स्वरूप लोकप्रचलित कहानियों का नाम लिया जा सकता है। कई बार उनको लिपिबद्ध भी लगभग ज्यों का त्यों ही कर लिया गया है। ऊपर दिए गए कथानकों में 'गोदावरी तीर रो जोगी' इसका उदाहरण है। परिवर्तन प्रक्रिया की दूसरी विधि के पीछे व्यक्तिगत प्रयास स्पष्ट दिखलाई देता है। ऐसा विशेष उद्देश्य को लेकर किया गया है। लौकिक-कथानकों को जैन अथवा बौद्ध ग्रंथों में गृहीत करने की प्रक्रिया के पीछे यह उद्देश्य दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार की विधि ने उनको सजाने की चेष्टा भी यत्र तत्र की है। इसी तरह साहित्यिक ग्रंथों में भी उनको सँवारकर प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है।

५ लौकिक-कथानकों में कई ऐसे हैं, जो राजस्थान में स्वयं परिवर्तित हुए हैं तो अनेक ऐसे भी हैं, जिनको प्रयत्नपूर्वक राजस्थानी बनाया गया है। 'डाढ़ाळै एकलगिड़ री वात' और 'सर्वहीये वीरमदे रै बेटै धनपाळ री वात' इस दिशा में उदाहरण हैं। किसी समय लौकिक-कथानक के नायक-पद पर पद्मपुराण में महाराजा इक्ष्वाकु को प्रतिष्ठित किया गया था तो बाद में उसी पद पर सिरोही के वीसलदे राजा को बिठा दिया

गया। इसी प्रकार श्री शुभशीलगणि ने एक लौकिक-कथानक के नायक-पद पर विक्रम-चरित्र को प्रतिष्ठित किया तो राजस्थानी 'बात' में उस पद पर सरवहीये वीरमदे का बेटा धांधल बिठा दिया गया। मध्यकालीन राजस्थानी समाज में राजपूतों की विशेष प्रधानता रही है, अतः यहां के अनेक लौकिक-कथानकों को उनके विशिष्ट नामों के साथ जोड़कर प्रस्तुत कर दिया गया है। सामाजिक प्रधानता में दूसरा दर्जा 'साह' (सेठ) का रहा है। अनेक पुराने कथानकों में उसकी प्रतिष्ठा भी हुई है। राजस्थानी की लिखित 'बातों' में इस दिशा में अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। ऊपर दिए गए 'नागिन छावड़ा' सम्बन्धी कथानक में यह विधि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

६ राजस्थानी बातों में प्रायः उनके लेखकों के नाम अप्रकट हैं। उनके लिपिकर्त्ताओं के नाम अवश्य मिल जाते हैं परन्तु वे बातों के लेखक नहीं हैं। लेखकों के नाम अप्रकट होने का प्रधान कारण यही है कि उन कथानकों को लोक की सम्पत्ति समझा गया है। अतः वहां किसी व्यक्ति विशेष का कर्तृत्व स्थापित नहीं किया गया। फिर भी उनमें व्यक्ति द्वारा किया गया परिवर्तन स्पष्ट दिखलाई देता है। साहित्यिक ग्रंथों में जहां लौकिक-कथानकों का उपयोग किया गया है, वहां तो उनके लेखकों के नाम प्रकट ही हैं।

७ ऐसी स्थिति में राजस्थानी कथानकों का बड़ी गहराई के साथ अध्ययन किए जाने की आवश्यकता है। इससे प्रकट होगा कि एक ही प्राचीन कथानक समयानुसार अनेक रूप धारण करता हुआ आज भी राजस्थान में मिल सकता है। यह अध्ययन बड़ा ही उपयोगी होने के साथ रोचक भी सिद्ध होगा। लौकिक कथात्मक सामग्री अनेक व्यक्तियों और स्थानों से सम्बन्धित होकर समयानुसार अपना रस-वितरण करती हुई चली आती है। भिन्न-भिन्न लेखक इसका अपने उद्देश्य के अनुसार उपयोग करके अपनी रचनाओं को सुन्दर और सरस बनाते हैं। यह अक्षय भण्डार है, जो सबके लिए सर्वदा खुला रहता है। अतः इसके सम्बन्ध में जितना अनुसन्धान एवं विवेचन किया जाए उतना ही अच्छा है।

—बद्या कालेज,
राजगढ़ ([illegible])

डा० कुंजविहारीलाल गुप्त

कविवर रसनायक के दार्शनिक विचार[1]

कविवर रसनायक न तो तत्वतः कोई दार्शनिक ही थे और न किन्हीं दार्शनिक विचारों की विवेचना करने की दृष्टि से उन्होंने 'विरह–विलास' ग्रन्थ की रचना ही की थी, किन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि वे एक भक्त–कवि थे और दिव्य भावना से प्रेरित होकर ही उन्होंने इस ग्रन्थ की सृष्टि की थी। कवि ने स्वयं ग्रन्थ के अन्त में कहा है:—

> विरह विलास रसनायक अनूप यह,
>
> कामना कलपतरु गोपिनु को नेमु है।
>
> ज्ञानिनकों ज्ञान गुनवाननि विसेस गुन,
>
> आतुर को चोज देत मूढ़न को फेमु है।
>
> भाविक कों भाव धन जाचक अपार देत,
>
> भक्तनि कों मुक्ति छवि ही को भर्यो छेमु है।
>
> रोचक रसिक ही के मोचक हमारे अघ,
>
> नेहनि कों नेह देत प्रेमनि को प्रेमु है ।। २०० ।।

अब प्रश्न यह उठता है कि कवि किस मत का अनुयायी था और क्या उसने प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से उस मत का समर्थन किया है? यदि किया है तो कैसा और किस प्रकार?

अपने पूर्ववर्ती भ्रमर–गीतकारों की भांति रसनायक भी वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे और उनके द्वारा प्रतिपादित दो प्रधान तत्वों– (१) दृढ़ स्नेह और (२) महात्म ज्ञान–में से दृढ स्नेह तत्त्व से विशेष रूप से प्रभावित थे। उनके काव्य की

---

१ द्रष्टव्य–रसनायक के व्यक्तित्व एवं कृतित्व संबंधी लेखक के निबंध, शोधपत्रिका. वर्ष १७: अंक १–२ व ४।

सिद्धान्त–पक्ष के अन्तर्गत उद्धव गोपियों को अलख, निरंजन, निराकार, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी ब्रह्म की उपासना करने का उपदेश देते हैं और उसकी साधना के लिए शंकराचार्य के बताए हुए शैव योगियों की वेश भूषा–जैसे झोली, रुद्राक्ष, सींगी का बाजा, भस्म रमाना आदि बातें बतलाते हैं ।

निर्गुण ब्रह्म की चर्चा को सुनकर गोपियां तिलमिला उठती हैं और अन्य-मनस्क किन्तु दृढ़ विश्वास के साथ कहने लगती हैं:—

अलि बौरे काहे बकत, कहु दुवारिका कान ।
बसत निरन्तर सुचित ब्रज, श्री घनश्याम सुजान ।।११।।

गोपियां उद्धव की इस बात से किसी प्रकार भी सहमत नहीं होतीं कि कृष्ण द्वारिका रहते है, क्यों कि वे भलीभांति जानती हैं कि उनके प्रिय उनके साथ ब्रज मे रहते है । इस बात को वे केवल जानती ही नहीं है, अपितु उसपर अटल विश्वास भी रखती हैं । इसीलिए वे अपने सरल स्त्रियोचित स्वाभाव से उद्धव से पूछती हैं कि:—

ब्यापक जगत ब्रह्म अलख कहां है कहि,
आदि निरंजन नाम रजे सब पेखिलै ।
कैसो अविनासी को है वेद जो बखाने जाहि,
विधि हू न जानै हमैं एकै रंग रेखिलै ।
ब्रज ही बसत रसनायक न आन ठौर,
काहे झकझोर करै सुचित बिसेखिलै ।
बौरेलौं बकत ऊधौ द्वारिका बतावै कान्ह,
कान्ह हैं हमारे प्रान प्रानन मै देखिलै ।।१२।।

उद्धव गोपियों को बौद्धिक स्तर पर लाकर समझाने का अनवरत प्रयत्न करते हैं । किन्तु उनको अपने उद्देश्य मे सफलता प्राप्त नहीं होती और उनका यह सोचना कि भोली-भाली गोपियो को वे बड़ी सरलता से अपने पथ पर ले आवेंगे, नितान्त भ्रांतिमूलक सिद्ध होता है । उसको अपना यह विचार तब अधिक निस्सार जान पडा, जब गोपियां यह कहने लगीं कि यदि ब्रह्म ज्योति उनके हृदयों में स्थित है तो वह बाहर निकलकर उनके दुःख से जलते हुए मानस को क्यों नहीं शीतल करती । वे कहती हैं:—

ये अँखियाँ पिय दरस को, तरसत खरी उदास ।
अन्तर ते अलि क्यों न हरि, निकसि हरैं यह त्रास ॥६५॥

× × ×

तुम जो कहत ऊधो अन्तर हमारे कान्ह,
बोलत न काहे रसनायक विकसि कै ।
छोह भरी छाजत ये तातो ह्वै हमारी छाती
सीतल करत क्यों न हिय त निकसि कै ॥६६॥

उद्धव की ऐसी अटपटी और सारहीन बातों को सुनकर गोपियों को उनपर सन्देह होने लगता है । इसीलिए वे क्रुद्ध होकर उनको लम्पट, धूर्त, निलज्ज, मतवाला और आततायी तक कह डालती हैं । वे कहती हैं —

जोग लै सिधारे तुम कुबिजै दै भोग आये,
निरगुन हमैं लाये लम्पट लखातु हो ।
रोकत सरल पथ वेद औ पुरानन के,
व्यापत अपथ पथ निलज सिहातु हो ।
यामैं धौं कहा है रसनायक वृथा है वाद,
चाह जो हमारे सो न चरचैं चलातु हो ।
अपनी कहत आप परि न सहत ऊधो,
माधव मिले की विधि काहि ना बतातु हो ॥२४॥

× × ×

मतवारे मधुकर अरे, नेकु न तो हिय लाज ।
मूर समुझि पहले लयो, अब धौं कैसो ब्याज ॥२६॥

× × ×

धुर होते दुख वन अलि, भलो सताई बाम ।
तिनक तनक सराप सों, मधुप भये तन स्याम ॥३१॥

× × ×

सुफलक सुत आयो बधिक, उपज सूर दुख दीन ।
छता छुटायो स्याम सों, ज्यों मांखी मधु छीन ॥११६॥

ऐसे अशिष्ट और कटु शब्द इसीलिए कहे गए हैं कि उद्धव के वचन उनमें अनन्य प्रेम में बड़े बाधक प्रतीत होते हैं ।

यद्यपि गोपियां जानती हैं कि उद्धव निर्लज्ज और मतवाला है, और उसकी उक्तियां उसी प्रकार कष्टप्रद हैं जिस प्रकार कि अक्रूर का व्रज मे आगमन और कृष्ण का मथुरा ले जाना, तथापि पुष्टि–मार्ग के अनुयायी होने के नाते कवि ने उन्हें व्यवहार–कुशल और शिष्ट रूप में दिखलाया है । यदि उनके प्रिय श्रीकृष्ण ने उन्हें कोई वस्तु भेजी है तो उनको उसे स्वीकार करना ही चाहिए। उसको अस्वीकार करना अथवा लौटा देना प्रिय का अपमान करना है, जो भारतीय परम्परा के विपरीत है । लेकिन उनकी स्थिति बडी दयनीय है । जब श्रीकृष्ण का अनुराग उनके रोम–रोम मे व्याप्त है तो वे उसको कैसे स्वीकार कर सकती हैं । इसलिए वे अत्यन्त विवश होकर दुःख के साथ उद्धव से कहती हैं—

> काम्हर सुजान व्रज रहिते तबै ही तुम,
> सोये घाँ फिरौंही जाय भूले मूढपन सौं ।
> अब न सुहाय तेरी निगुन मुकति अहो,
> रहिगी अकेली काहै बोलै अबलन सौं ।
> फेरि ब्योंत राचै रसनायक हमारी सौंह,
> भेजियो सितावी ढील करो जिन मन सौं ।
> चहियैंगी ताही छिन लहिहैं मँगाय ऊधौ,
> अबहि लै जाउ नीकै राखियौ जतन सौं ॥ ५८ ॥

उद्धव के ज्ञानोपदेश से तंग आकर गोपियां स्पष्ट रूप से उनसे कह देती हैं कि योग को वे अपने ही पास रखें:—

> मुकति कृपा करि साँवरे, अलि उन भेजी सोहि ।
> लीनी सीस चढ़ाय हम, रीझि देत हैं तोहि ॥ ५५ ॥

बात साधारण सी है कि गोपियाँ कृष्ण द्वारा भेजे हुए निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना नहीं चाहतीं, किन्तु कवि ने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा साधारण सी बात मे भी गूढ़ व्यंग और हास्य इतना भर दिया है कि कहते नहीं बनता । वास्तव में कवि तार्किक नहीं, भावुक होता है और उसका लक्ष्य उक्ति–वैचित्र्य द्वारा पाठकों को भावस्थली पर ले जाना होता है जिससे वे रसो की अनुभूति कर सकें ।

सगुण ब्रह्म के समर्थन मे तर्क उपस्थित करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि वे कृष्ण को केवल दो–चार–दस दिन से ही प्रेम नहीं करतीं, अपितु बालपन से ही करती हैं । उनका

प्रेम प्रथम दर्शन मात्र का ही नहीं, सतत साहचर्य पर आधारित है। यही कारण है कि उस प्रेम की जड़ें उनके हृदय मे इतनी गहरी समा गई हैं कि वे उद्धव की योग की अट-पटी बातों से उखड़ नहीं सकतीं। वे कहती हैं —

> बालपने के सनेही तिन्हें कहि,
> क्यों करि भूलियै बावरे ऊधो ॥ २० ॥

बालसनेही कहकर तो कवि ने उक्ति मे चार चाँद लगा दिए हैं। गोपियों का प्रेम इतना अटल और गम्भीर था कि योग की बातें उन्हें विष के समान लगती हैं —

> प्रेम सुधा जिन जनम सौं, असि चाख्यौ अनुकूल।
> जोग जहर तिनकौं कहा, रुचि मानै मति भूल ॥ २१ ॥

कृष्ण का बाल-स्नेह गोपियों के शरीर में इस प्रकार व्याप्त हो गया है जैसे किसी काले नाग का विष फैल जाता है। परिणाम स्वरूप वे अपनी सज्ञा और चेतना सब सुध खो बैठी हैं। ऐसी दशा में वे निर्गुण ब्रह्म को किस प्रकार समझ सकती हैं —

> डसी साँवरे साँप अलि, कित वलि ऊतर देहि।
> जीवन लयौ न जोग हम, मुई दई कब लेहि ॥ ६१ ॥

जब गोपियाँ जीवित और चेतनावस्था मे थीं तब तो कृष्ण ने योग भेजा नहीं, अब मृत तुल्य होने पर भेजा है। मृतक प्राणी द्वारा ज्ञान और योग की बातें किस प्रकार ग्रहण की जा सकती हैं। उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने कितने सुन्दर तर्क द्वारा अनिर्वचनीय विवशता दिखलाई है।

कभी कभी ब्रज बालाएँ उद्धव की बातों से अत्यधिक खिन्न हो जाती हैं, तब झुँभलाकर कहने लगती हैं —

> ऊधव देत सताप हमें,
> संताप भरी जु भरो दुख यातें।
> पीर पुराई नई तन मैं,
> रसनायक तोरे सनेह क नाते।
> ज्यों विरहागि बढ़ी यहा,
> कठिनाई महा परी भाखत तातें।

ऊजर गाम की मूरति ज्यों,
कहि पूजि है कौन कहा मटिकाने ॥ १९६ ॥

"ऊजर गाम की मूरति (ब्रह्म)" का तर्क देकर तो कवि ने कमाल कर दिया है। इस तर्क द्वारा गोपियाँ न केवल निर्गुण ब्रह्म का खण्डन करके उद्धव की भर्त्सना करती हैं, अपितु निर्गुण की निस्सारता और अग्राह्यता पर भी व्यंग्य करती हैं। "ऊजर गाम की मूरति" के विपरीत उनका कृष्ण कल्पनातीत सुन्दर, सलोना और आकर्षक है। ऐसी माधुरी मूर्ति से प्रेम करना उनके लिए नितान्त स्वाभाविक है। उनका प्रेम अनन्य और निश्छल है। वे कहती हैं:—

यह माधुरी मूरति माधव की,
हिये राजत पूरित जोर रही।
थिर है करि ठीक रमी अंग में,
रसनायक रंग हिलोर रही।
निस-वासर प्रात औ साँझ घड़ी पल,
एक न छोड़त कोर गही।
कित पाती के आँकरि बांचि धरें,
अलि अंतर नेकहुं ठौर नहीं ॥५०॥

कितनी सुन्दर उक्ति है। जब हृदय में कोई स्थान नहीं है तो कृष्ण की भेजी हुई पत्रिका के अक्षरो को उसमे किस प्रकार सँजोया जा सकता है। कविवर रसानायक ठीक ही कहते हैं कि गोपियों के हृदय पटल पर कृष्ण का दिव्य-प्रेम इस प्रकार चित्रत हो गया है कि अब उसे मिटाकर उसके स्थान पर निर्गुण का रंग किसी प्रकार चढ ही नहीं सकता:—

लगै न औरै रग मधुप, कहा चढावत तूज।
स्याम रंग राची सु अब, किते चढ़ै रग दूज ॥१०६॥

प्रेमोन्मत्ता ब्रजबालाएँ उद्धव को यह स्पष्ट बता देती हैं कि यद्यपि वे भोली-भाली और गांव की ग्वालिन हैं, फिर भी उनके दाव-पेचों में पडकर कृष्ण से प्रेम करना नहीं छोड़ सकतीं:—

ब्रजनारी भोरी तऊ, परै न अलि इहि पेच।
कहा ठगत ठगिया अरे, जोग ठगोरी वेच ॥

अन्तत रसनायक बड़े सरस और ग्रामीणोचित भाषा मे लिखते हैं कि प्रेम और भक्ति के आगे ज्ञान और योग की बातें कोई महत्त्व नहीं रखतीं—

होत निवेरो मलिन अब, रचिगो सरस सनेह।
ज्यौं पतग दीपक जरै, प्रीति-रीति को तेह ॥१२५॥

× × × × +

अब न विलोक्यो प्रेम सौं, हियो न हित के सीव।
या परमारथ विरह के, मधुप कितो कहि बीच ॥१३५॥

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि गोपियों का मन-मधुकर भगवान श्री कृष्ण के चरण-कमलों की पराग में इतना उन्मत्त हो गया है कि उसे अपने-आप की कुछ सुध-बुध ही नहीं है। वे तो प्रेम और भक्ति की धारा मे अबाध गति से प्रवाहित हो रही हैं।

यह तो रहीं साध्य पक्ष की बातें। साधन-पक्ष मे भी गोपियों को शैव योगियों की भांति झोली, अधारी, रुद्राक्ष, भस्म और वेश-भूषा कुछ भी नहीं सुहाता, क्यों कि वे योगियों की पूर्ण अवस्था को पहले ही प्राप्त हो चुकी थीं।

योग शब्द की व्युत्पत्ति 'युज्' धातु में 'घञ्' के योग से होती है और उसका अर्थ होता है एकता। अत योग शब्द से तात्पर्य आत्मा में परमात्मा के विलय से अथवा लक्ष्य या इष्ट में मन को पूर्ण समाविष्ट करने से होता है। जहाँ योग शब्द से एक आध्यात्मिक दशा का आभास होता है, वहां दूसरी ओर मानसिक स्थिति का भी। किन्तु समाधि अवस्था मे ये दोना दशाएँ समाविष्ट हो जाती हैं। यह अवस्था गोपियां उद्धव के आने से बहुत दिन पूर्व प्राप्त कर चुकी थीं। देखिये —

द्वारिका सिधारे नदनन्दन हमारे पति,
ता दिन ते सूनो भौन भाखसी लौं गह्यो है।
तूल क्यो कलेवर पै पजर्यो करत काम,
पावक प्रचण्ड तामैं निस दिन दह्यो है।
विरह समीर लागै उठत भभूके झार,
दहि दुख ऐसो रसनायक त्यौं सह्यो है।
तुम जो कहत ऊधो भसम रमावो अग,
बिन ही भसम तन भसम ह्वै गह्यो है ॥१४॥

आगे चलकर गोपियाँ और भी स्पष्ट कर देती हैं:—

कान्ह कियो गुरु हम वहै, मधुकर अरे अजान।
साधी सुरत समाज सौं, वही अराधन ध्यान ॥४१॥

कवि कहता है कि योग द्वारा योगी अपने आन्तरिक और वाह्य दोनों प्रकृतियों पर विजय प्राप्त करने का भागीरथ प्रयत्न करता है। गोपियां भी अपने उपास्य श्रीकृष्ण का अभेदात्मक भाव से ध्यान करती हुई उससे मानसिक और भावात्मक सान्निध्य का आनन्द प्राप्त करती हैं। फिर योग का उपक्रम किसके लिए किया जाय एवं क्यों कर? इसीलिए योग की क्रियाओं और ध्यान का मजाक उड़ाते हुए गोपियां कहती हैं:—

गोपिन के जोग कहा जोग है अजान एरे
कौन से पुरान को हूं कहीयो प्रतीति है।
वृखभ उरोज जैसे छीर क्यों दुहात ज्यों हो,
धेनु क्यों जुरात जूवे कितऊ पुनीति है।
वाहन तरत रसनायक न नीर श्रे पें,
बुढ़त न दारु श्रंबु यें ही जग रीति है।
बानी विपरीत अै से गाइयें न गीत ऊधो,
नीति विन भीति कैसें कीजत अनीति है ॥७४॥

गोपियां उद्धव के ज्ञान पर बडा आश्चर्य करती हैं, क्योंकि वह इतना भी नहीं जानता कि शास्त्रों में स्त्रियों को योग सिखाना वर्जित है। वे कहती हैं:—

आंधरे अंजन बूंचे न झूमक,
बेसरि स्बो न करे छवि रासी।
मुंडनि पाटी कहां गुहि है,
अंग कोढी के केसरि कौन प्रकासी।
औ वहिरे ढिग गाय कहा,
रसनायक क्यौ हमै बौरे बिसासी।
जोग न जोग अहीर की नारिनु,
जोग है जोग बसे सिव कासी ॥१८॥

× × ×

सुवर सरस बैनी गुही कर ही सों जब,
जटा क्यों बधावैं तोहि लाज हू न आवै रे।
करची सुगध जिन अगनि हमारे सदां,
ते कित भसम भेजें जुवती रमावै रे।
कानन जराऊ रसनायक करनफूल,
उन ही धराय कहा मुदरा सुहावै रे।
उलट कहत झूठी बाता बनाय ऊधो,
कान्ह न कही है काहे छतियां जरावै रे ।।४४।।

× × +

चरन हमारे जिन जावक लगाई कर,
तिन क्यों कही है गोपी जोगहि विसेखो रे।
निगम बखानी गोपीनाथ ही की जोर सदां,
तिन क्यों अगेजी दासी अचिरज देखो रे।
निस दिन हमारे ही रहते समीप तिन्हें,
कैसे रसनायक गमाव कौन लेखो रे।
ऊरध उसासनि यों मारियै मसोसें मैं पै,
निठुर भये को ऊधो आवत परेखो रे ।।४६।।

अपने पूर्ववर्ती कवियों की भाँति रसनायक भी भक्ति और प्रेम में कोई विभेद नहीं करते, अपितु एक समझते हैं। शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से भक्ति शब्द 'भज्' धातु में 'क्तिन' प्रत्यय लगाकर बनाया जाता है। भक्ति का अर्थ होता है भगवान की सेवा करना। मनीषियों एव आचार्यों द्वारा भक्ति दो प्रकार की बताई जाती है— (१) गौडी और (२) परा। गौडी भक्ति के दो रूप होते हैं— (अ) वैधी (ब) रागानुगा। वैधी में सेवा तथा रागानुगा में प्रेम का प्राधान्य होता है। कविवर रसनायक की गोपियों की भक्ति भी रागानुगा भक्ति है, क्योंकि वे प्रत्येक घडी और प्रतिपल अपने मन-मन्दिर में स्थापित श्रीकृष्ण की प्रतिमा की अनन्य भाव से अर्चना में लगी रहती हैं। ऐसी प्रेमविह्वला गोपियों को योगियों की वेश भूषा केवल हास्यास्पद ही प्रतीत होती है। उद्धव इस बात को भूले हुए हैं कि गोपियां अपने प्रेम में इतनी आगे बढ़ चुकी हैं कि उनकी अवस्था को समाधि अवस्था कहना अधिक उपयुक्त है। इस अवस्था की प्राप्ति के अनन्तर उन्हें न अब मुक्ति की

इच्छा शेष है और न अन्य किसी सांसारिक बाह्य आडम्बर की ही। उनके उमड़ते हुए प्रेम की उर्मियां अपने प्रिय की अगाध रसनिधि में लीन हो चुकी हैं।

भक्ति को ज्ञान और कर्म दोनों से श्रेष्ठ समझा गया है, क्योंकि ज्ञानी मनुष्य अपने ज्ञान के साधन द्वारा मुक्ति की कामना करते हैं जो उनके जीवन का एकमात्र साध्य है। इसी भांति कर्म भी साध्य है, जिसका लक्ष्य है 'कर्म संन्यास'। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो ज्ञात होगा कि भक्ति में न ज्ञान-योगियों सी अद्वैत कामना रहती है और न कर्म-योगियों के कर्म-संन्यास की बलवती अभिलाषा ही। भक्त तो सदैव ही सच्चिदानन्द प्रभु के ध्यान में लीन रहता है। भक्ति के अतिरिक्त न उसे किसी बाह्य साधन की आवश्यकता होती है न उसका लक्ष्य कोई सिद्धि प्राप्त करना होता है। वस्तुतः भक्त स्वतः अपने में पूर्ण होता है। यही दशा रसनायक की गोपियों की है:—

> साँवरी सूरति नैनहि हो,
>
> रसनायकजू सो दिन रैन निहारें।
>
> बांसुरी रंग भरी सुनि के,
>
> इन ओनिनि सोधि सुधासों सुधारें।
>
> अंक भरे निरसंक भले,
>
> करि प्यार अनंग निछावर वारें।
>
> स्याम संयोग हमारे सदा,
>
> अलि योग न जारहि फूंकि पजारें ॥११२॥
>
> × × ×
>
> निगुन करेंगी कहा गुननि रही हैं भरि,
>
> प्यारे रसनायक के प्रेम हि पुराय है।
>
> भोरी लखि गोपिन को ठगत कहाउ जाउ,
>
> जोग की ठगौरी ऊधौ ब्रजन विकाय है।

समास रूप मे यह कहा जा सकता है कि विरह--विलास मुख्यतया भाव--प्रधान काव्य है, जिसमे वियोग--शृंगार को ही प्रधानता दी गई है. फिर भी अन्य भ्रमर-गीतकारों की भांति कवि ने यत्र-तत्र सगुण--निर्गुण के प्रसग देकर ज्ञान और भक्ति का समन्वय करते हुए भक्ति को विशेष महत्त्व दिया है। निस्सदेह कविवर रसनायक एक अनन्य भक्त कवि थे जिनके हृदय में अपने आराध्य श्रीकृष्ण का निश्चल ध्यान और मिलन की बलवती लालसा सदैव बनी रहती थी। गोपियो के विरह--वर्णन के माध्यम से कवि के स्वयं के हृदय की व्याकुलता का यह चित्र, जो इस पुस्तक में दिखाई देता है, निस्संदेह सराहनीय और स्तुत्य है।

—राजकीय महाविद्यालय
कोटा

बद्रीप्रसाद पुरोहित 'विशारद'

राजस्थानी साहित्य में अर्थशास्त्रीय ज्ञानः एक अध्ययन

राजस्थान के जन-जीवन में कहावतों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । वाणिज्य-व्यापार की पटुता का जैसा अनुभव राजस्थानी साहित्य की अर्थशास्त्रीय कहावतों में होता है उतना अन्यत्र किसी भी भाषा में देखने को नहीं मिलता। कहावतें मानव समाज को सद् मार्ग सिखाती हैं । कहावतों द्वारा हम अपने भले बुरे का निर्णय कर सकते हैं। पुराने जमाने में राजस्थानी लोग जितना कहावतों और मुहावरों का प्रयोग करते थे उतना प्रचलन अब नहीं है। आज देश में शिक्षित वर्ग कहावतों का उपयोग सही ढंग से नहीं कर सकता है। लेकिन ग्रामीण जन आज भी कहावतों द्वारा लेन देन करता है। कहावतें एक खुले ग्रन्थ के समान हैं, इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जो ज्ञान हमें पुस्तकों के अध्ययन से उपलब्ध नहीं हो सकता वह ज्ञान हमें इन प्रचलित राजस्थानी कहावतों द्वारा हो जाता है ।

राजस्थानी लोगों का प्रमुख पेशा व्यापार रहा है। (१) अर्थार्जन (२) मितव्ययिता तथा (३) यहाँ के लोगों का प्रवास में जाकर एक सामान को लेकर दूसरी जगह पहुँचाना और श्रम करना राजस्थानियों का प्रथम कर्तव्य जीवन के इस प्रमुख क्षेत्र में रहा है। महाजनों का समस्त कारोबार करने की प्रणाली यहाँ के लोगों को दादा परदादा, पिता द्वारा परम्परागत प्राप्त अनुभव की शिक्षा-प्रणाली—कहावतों द्वारा मिलती है ।

देश के प्रत्येक कोने कोने में व्यापार-व्यवसाय करने हेतु सैकड़ों वर्षों पहले राजस्थान के लोग यहाँ से प्रवास में पहुँचे। प्रवास में पदार्पण के बारे में कहा जाता है "म्हाँ म्हारा बाप दादा लोटो र डोरी ले र आया हा" । लोटा डोरी अर्थात् जीवन की मूल वस्तु को यह लेकर चींटियों की तरह निर्धनता से लोहा लेने के लिये आगे, अपने अथक परिश्रम से कमाकर करोड़-पति बना और जीवन को सुखी करते। अपने मेहनत से उनके [illegible] का समाज तथा देश के हित लगाता। यहाँ के लोग जिस समय बंगाल, आसाम, बर्मा मद्रास व अन्य शहरों में पहुँचे, उस समय देशमें

आने जाने के सुगम साधन भी नहीं थे। फिर भी अपनी व्यावसायिक धर्मनिष्ठा, अध्यवसाय के कारण राजस्थानियों ने अपने पैर वहां पर जमा लिये। देखते देखते ही राजस्थान के दूर दूर तक फैले बालू के 'धोरे' स्वर्ण राशि में बदल गये। राजस्थान के सूखे सागर को सिंचित किया।

राजस्थान के प्रवासी जिन्हें बाहरी लोग मारवाड़ी कहते हैं उन लोगों में यह कहावत सी घर कर गई है कि एक मारवाड़ी (राजस्थानी) अपनी मां के पेट से व्यापार की निपुणता लेकर जन्मता है। राजस्थानी व्यापारियों ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय देते हुए "हुण्डी" का प्रचलन किया। जिस समय देश में बैंकिंग सिस्टम नहीं था, राजस्थानी व्यापार व्यवसाय हेतु भारत को छोड़कर सात समुद्र पार विदेशों तक भी पहुंचे। वहां के निवासियों को उन्होंने अपनी कला व संस्कृति का पाठ भी पढ़ाया। अपनी प्रतिभा से ख्याति और धन से भरे ये लोग भारत में पहुंचे।

राजस्थानी साहित्य में अर्थ शास्त्र के सिद्धान्तो की वैज्ञानिकों व अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गई शास्त्रीय परिभाषा देखने को कहीं भी नहीं मिलती है। लेकिन आर्थिक जीवन में उपलब्ध व्यावहारिक ज्ञान का संकेत कहावतों-मुहावरों में प्रमुख रूप से देखने में आता है।

सभी लोगों को अपना घर सबसे प्रिय लगता है। अपने देश मे चाहे रूखा सूखा खाये कम मजदूरी पाते हुए भी मानव में यह भावना प्रबल होती है कि वह अपनी जन्म भूमि में ही रहे। परन्तु राजस्थानी स्वावलम्बी रहे हैं। वे प्रवास में व्यापार हेतु चले जाते हैं जिसके पीछे राजस्थानी नारी, सेजों में सोयी हुई गोरी, के यौवन की उमंगे ढल जाती हैं। माता पिता का स्नेह लाड़ली बहन का प्यार छोड़कर वे प्रवास में अर्थार्जन के हेतु चलते हैं। वर्षों के बाद अपनी जन्म भूमि में लोटते हैं। बुजुर्ग लोग अपने बच्चों को बचपन में ही यह ज्ञान दे देते हैं कि—

"भू बिना भाग नहीं जागे'

अर्थात् देश देशान्तरों की यात्रा के बिना उसका भाग्य चेतता नहीं है। और उसको यह प्रेरणा दी जाती है—

"फिरै सो चरै, खूटे बँध्यो मरै"

जो जीवन निर्वाह के लिये फिरता है वह सब कुछ पाता है, खोता नहीं। इसलिये यह कहते हैं—

"रोटी जठेई घर, रोटी सबसू मोटी"

जहाँ मनुष्य को रोटी रोजी मिल जाती है उसको वहीं घर मानना चाहिये। रोटी ही जीवन में सबसे महत्वपूर्ण होती है।

राजस्थानी सवेरे से लेकर शाम तक काम में जुटे रहते हैं। चाहे जैसी परिस्थितियों से, सघर्ष करने में हिचकते नहीं। व्यापार मे सफलता प्राप्त करने के लिये जो गुण व्यक्ति में होने चाहिये, परिश्रम, कडी मेहनत, व्यहार कुशलता, ईमानदारी, राजस्थानियों में विद्यमान हैं।

रुपये का मानवीकरण

रिपिया! तेरी रात दूजो नर जलम्यो नहीं।
जे जलम्यां दो च्यार तो जुग मे जीया नहीं॥

हे रुपया! जिस रात को तुम पैदा हुए उस रात कोई भी पैदा नहीं हुआ। क्यों कि तुम सा इस ससार में कोई दिखाई नहीं पडता। यदि कदाचित दो चार पैदा हुवे भी तो वे जीवित नहीं रहे। वे जीवित रहते तो देखने में आते।

गरीब और धनवान लोगों के जीवन में कितना अन्तर समाज ने उस पूंजीपति के लिये बना दिया है। उसके व्यक्तित्व के तीन रूपान्तर बन गये हैं—

"माया तेरा तीन नाम
फरस्या, फरसो, फरसराम"

जैसे जैसे आदमी के पास पैसा बढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी समाज में कदर भी बढ़ती जाती है। किसी गरीब आदमी को "फरस्या" जैसे छोटे नाम से पुकारते हैं। फिर उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने से यह "फरसो" हो जाता है। और जब उसी व्यक्ति के पास कुछ पैसा इकट्ठा हो जाने पर वह "फरसराम" हो जाता है।

आ रे मेरा सम्पट पाट
मैं थने चाटूं तू मने चाट।

हे मेरे सत्यनाश करनेवाले रुपये, मैं तुमको चाटता हूँ और तू मुझे चाट। उपरोक्त कहावत में रुपये का मानवीकरण आदमी से हुआ है।

"क्यसामजी गुड़-बाको सब चेला।

रुपया गुरु है, बाकी दुनियां में इसके चेले हैं ।

"पीसो पास को, हथियार हाथ को"

पैसे की उपयोगिता तभी होती है जब वह पास होता है । इसी प्रकार हथियार भी हाथ में होने पर ही समय पर काम आ सकता है ।

"माया अंटकी-विद्या कंठकी"

धन पास हो और विद्या कंठस्थ हो तभी काम आती है । यह दोनों वस्तुएं अपने पास निजी की होने पर ही काम आती हैं ।

"व्योप्यारे वधते लिछमी"

'व्यापरे वर्धते लक्ष्मी': अथवा 'व्यापारे वसते लक्ष्मी.' के स्थान पर राजस्थानी व्यापारी अपनी गहरी आस्था 'व्योपारे वधते लिछमी' में रखते हैं ।

"विणज करेला वाणियां, और करेला रीस"

व्यापार तो केवल बनिया ही करेगा, अन्य लोग तो झगड़ा ही मोल लेंगे । लोभी बनिये के प्रति कहा गया है—

"विणजां लाग्यो वाणियों, चूंटे लागी गाय

बावड़े तो बावड़े, नहीं तो दूर निकल जाय ।"

व्यापार में फंसा हुआ बनिया तथा दूसरे के खेत में हरा भरा घास चरनेवाली गाय वापस आये तो आये, नहीं तो वे लोग अपने काम में निश्चित होकर लगे ही रहते हैं ।

"बखत पड़े विणजे नहीं, सो वाणियों गंवार"

उस बनिये को जो समय पर व्यापार नहीं करता उसको गंवार कहते हैं ।

ग्राहक और व्यापारी

राजस्थान के व्यापारी बोल-चाल, व्यवहार-पटुता के दिग्दर्शक हैं । अगर कोई कम बोलनेवाला व्यापारी भाव में ठीकसर बोलकर ग्राहक को जँचा नहीं सकता तो वह व्यापार में कमा नहीं सकता है । उसके लिए व्यंग में मुहावरा कहा जाता है:-

बोले जिके रा जवार बिके और ना बोले जिके रा मूंगड़ा ही पड़या रै जावे ।

समय समय पर वस्तुओं के दाम भी घटते रहते हैं । अतः दुकानदार खरीददार को अपनी ओर से वह वस्तु सस्ती बेचना बतलाता है:—

बखत बखत रा मोल है
बाणीयों अवकल उधजाई
राई रा भाव राते गया
अब टके की सेर राई।

फिर भी ग्राहक को वस्तु की अत्यन्त आवश्यकता होती है। वह खरीदना ही चाहता है। दुकानदार झट से कह देता है—"गर्ज रो मोल है।"

कम मूल्य पर सामान बेचने से बनिये की दुकान जम जाती है। भविष्य में वह खूब कमाता है। शाम को बेचकर घर जानेवाली मालिन (उतावली) खूब ठगाती है। इसीलिये कहा गया है—

"बैठतो बाणियों उठतीं मालण ठगावे।"

जब दुकानदार को अपना समान शीघ्र बेचना हो तब वह कहता है—

"भाव माठा, तोल पसेरी।"

"तन तोलो मन ताखडी–नैणा बिलणहार।"

ग्राहक को वस्तु की इतनी आवश्यकता जब नहीं होती है तब वह शीघ्र कह देता है कि म्हारे तो लूरा लेवाली है क्यू तोने ज्यू तोलो हा।

ब्याज (सूद)

कुछ लोग ब्याज पर रुपया जरूरत होने पर उधारे उठाते हैं। पर रकम का ब्याज भी इतनी तेजी से बढ़ता जाता है कि उसे घोड़े भी पहुंच नहीं सकते—"ब्याज ने घोडा ही को पूगे नी"। किन्तु फिर भी ब्याज की अपेक्षा उस रकम द्वारा व्यापार करना अधिक लाभदायक है। ब्याज को व्यापार का दास माना गया है—"ब्याज व्यापार रो गोलो है"। दो–चार सौ रुपयों की सोने की चीज को पचास–साठ रुपये में "अडाणे" रख दिया जाता है। फिर धीरे धीरे गिरवी रखी वस्तु का ब्याज इतना बढ़ता जाता है कि मूल चुकाना तो दूर रहा, सूद "ब्याज" भी इतना बढ़ जाता है कि कर्जा भरा ही नहीं जाता। अन्त में अडाणे रखी हुई रकम से हाथ धो बैठना पड़ता है। इसीलिये यह शिक्षा दी जाती है—"बेटो कमावे दिन–ब्याज कमावे रात दिन"।

ऐसे काफी राजस्थानी हैं जो लाखों रुपया ब्याज पर उधार देते हैं। ससार में कर्जदार होना अभिशाप माना जाता है—

पैंडो भलो न कोस को, बेटी भली न एक ।

लहणो भलो न बाप को, साहब राखै टेक ।

कोस का रास्ता चलना अच्छा नहीं, बेटी एक भी अच्छी नहीं, ऋण तो पिता का भी अच्छा नहीं, भगवान ही इससे लाज रखे ।

राजस्थानी व्यापारी के हृदय में झूठ व चालाकी का कोई स्थान नहीं । राजस्थानी लोग घोर परिश्रमी होते हैं । छोटे से छोटे काम को लेकर बड़े से बड़े काम को अपने हाथों से खुद करते हैं । अगर व्यापार में घाटा लग गया तो ये लोग अपनी स्त्रियों के गहने बेचकर भी पूरा चुकाते हैं । यह इनकी व्यवसाय में पवित्रता है ।

जिस समय राजस्थानी मारवाड़ी लोग प्रवास की ओर चले होंगे, उससे पहले इन्होंने न स्कूलों की पढ़ाई ग्रहण की होगी और न कोई पुस्तक पढ़ी होगी । उस समय न पुस्तकें थीं । न कोई प्रेस था । तब व्यावहारिक जीवन मे कहावतो-मुहावरों द्वारा ही सामान्य जनता में कारोबार होता था । जिन राजस्थानी लोगों ने कोई विश्वविद्यालय तथा स्कूल में अर्थशास्त्र की शिक्षा ग्रहण न की, अपनी मातृभाषा राजस्थानी के अलावा जिसको किसी भी भाषा का पूरा ज्ञान नहीं, उन राजस्थान के व्यापारी लोगों के जनजीवन मे अर्थशास्त्री कहावतों की गहराई मिलेगी ।

राजस्थान के लोक साहित्य के बिखरे हुए ग्रन्थों के पन्नो पर हमें ये कहावतें दिखलाई पड़ती हैं । इनका संग्रह पूरा ग्रन्थ का रूप ले सकता है । राजस्थानी कहावतें-मुहावरे व्यापार-क्षेत्र में अर्थशास्त्रीय ज्ञान से सम्बन्धित सर्वोज्ज्वल मणियां हैं । ये कहावतें प्राचीन काल से धरोहर के रूप में मिलती हैं, जो लोक-जीवन की व्याहार पटुता में प्रयोग में लाई जाती हैं ।

—साले की होली

बीकानेर,

● शिवनारायण सक्सेना एम० ए०

भक्त कवि श्याम स्वरूपजी

जब हम भक्त कवि तुलसी, सूर, मीरा आदि के पद और छन्दों को देखते हैं तो भक्तिरस मे डूबकर बड़े ही आनन्द का अनुभव करते हैं। फिर अनेक ऐसे कवि भी हुये जो शरीर से मुसलमान थे पर हृदय से कृष्ण की भक्ति मे सराबोर रहते थे। रहीम और रसखान ऐसे ही कवियों में गिने जाते हैं। इन भक्त कवियों से हम बाबू श्यामस्वरूप की तुलना तो नहीं कर सकते पर हां इतना हम अवश्य कह सकते हैं कि उर्दू और फारसी का ज्ञान होने पर भी हिन्दी के लिये उनका किया गया प्रयास बड़ा सराहनीय ही माना जावेगा।

सन १८६७ में ग्राम जुनैदपुर जिला एटा [उ०प्र०] के कायस्थ परिवार में इनका जन्म हुआ। इनके पिता मु० कुन्दनलाल साधारण लोगों में गिने जाते थे। निर्धनता के कारण ये स्कूल में केवल मिडिल तक ही पढ़ाई कर सके। मिडिल की परीक्षा में भी उत्तीर्ण न हुये। घर पर ही हिन्दी, संस्कृत और आयुर्वेद का इन्होंने अध्ययन किया। घर पर ही दवायें बनाकर सेवाभाव से चिकित्सा का काम अपने हाथ मे ले लिया। सन १९१७ से १९२० तक रियासत बिजावर तथा १९२२ में रियासत बलराम जिला गौंडा मे मुहर्रिर के पद पर काम करते रहे। बाद को उज्जैन म० प्र० तथा एटा जिले के अनेक ग्रामों में बच्चों के शिक्षण का कार्य भी करते रहे। सन् १९३१ मे बदायू जिले के ग्राम गुढ़आना से इनका विवाह हुआ।

विवाह के बाद आर्थिक स्थिति डांवाडोल हो गई। पारिवारिक सुख भी न मिल सका। और सन् १९४४ में हैजे से बीमार होकर ग्राम पांसलोद में जो उज्जैन जिले में गौतमपुरा रोड से ३ मील दूर है स्वर्ग सिधारे। आपका कई घण्टा नित्य का समय ईश्वर उपासना और जनसेवा के कार्य में जाता था। वे सीधे सादे स्वभाव के थे। अपनी उपासना के द्वारा अधिक से अधिक लोगों की सेवा करते थे। उन दिनों उज्जैन में कुम्भ का मेला था। आप कई व्यक्तियों के साथ क्षिप्रा नदी में स्नान करने गये। वहां गन्दगी के कारण सहस्त्रों

व्यक्ति हैजे से प्रभावित हुये और सैकड़ों की मृत्यु हो गई। आप भी मेले से अस्वस्थ लौटे। काफ़ी चिकित्सा के बाद भी आपका जीवित रहना सम्भव न हो सका।

जहाँ तक बाबू श्यामस्वरूप के जीवन से सम्बन्धित बातों का प्रश्न है, कोई विशेषता नहीं। फिर भी उनकी साहित्यिक सेवा विशेष महत्त्व की कही जा सकती है। उनके जीवन में शायद एक भी कविता उनके द्वारा रचित, समाचारपत्र या पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं हुई। और न उनके द्वारा इस प्रकार का कोई प्रयास ही किया गया होगा। उनके फुटकर पद तथा कविताएं देखने को मिलती हैं। उनके जीवन के विषय में आज तक किसी साहित्यकार की कलम ने कुछ भी लिखने का प्रयास नहीं किया। भाषा बड़ी सीधी सादी, उर्दू मिश्रित है। ईश वन्दना करते हुये उन्होंने कहा है:—

हे जग दाता सुख के नाथा, नाऊँ माथा चरन चरन।
सुख को देता दुख को हटाता, मैं तेरे होता शरन शरन ॥
हुनर को देता अकल बढ़ाता, ताक़त देता बदन बदन।
कुबुद्धि हटाता सुबुद्धि देता, मैं कुछ करता कथन कथन ॥

इस प्रकार इस वन्दना में ईश्वर की कृपा से विभिन्न वस्तुएं प्राप्त करने की बात कही गई है। भोजन, वस्त्र, निवास, धन, जन्म, मृत्यु, स्वर्ग, नरक आदि अनेक पदार्थ ईश्वर की कृपा से ही मिलते हैं। संसार की सब माया झूठी है। उसमें हर समय फंसे रहने पर जीवन के जो अमूल्य क्षण भगवान के भजन के लिये मिले हैं बेकार चले जाते हैं। अतः घर में रहने से लाभ ही क्या है:—

हैं सब मतलब के साथी, भाई बन्धु पुत्र और नाती।
बे मतलब का ना कोई जाती, पूंजी के सब ही हैं घाती ॥
अरे तू क्या करेगा घर मे, है सब झूठी माया जग में ॥

वास्तव में संसार के सब लोग स्वार्थी हैं। जबतक जिसका स्वार्थ रहता है तब तक वह अपना कार्य चलाने का प्रयास करता है। धन और दौलत, अपने जीवन में जो भी कमाई है, यदि उसे दान-पुण्य के कार्य में न लाए तो मरने के बाद अन्य लोग बेरहमी से खर्च करेंगे। अतः सत्य-धर्म को छोड़कर भ्रम मे पड़ने से क्या लाभ? यही बात कवि ने पूछी है:—

ना है कोई यहाँ पर अपना, इक ईश्वर को माना है ।
धन दौलत और रुपया पैसा-जो कुछ माल खजाना है ॥
नाही साथ कुछ भी जावेगा, गैरों को यहाँ पर खाना है ।
सत्य धर्म को छोड़ कर-क्यों भूला अजब दिवाना है ॥

ईशवन्दना तथा संसार के मिथ्यावाद पर अनेक कविताएँ देखने को मिलती हैं जिनमें से दो चार उदाहरण अभी आपके सामने रखे । राम, कृष्ण, हनुमान आदि सभी की स्तुति से सम्बन्धित कविताएँ देखने को मिलती हैं । पवनसुत हनुमान की वन्दना करते समय कवि ने अपने को संसार में अकेला बताते हुये रक्षा की भीख मांगी है, तथा राम से भी सन्देशा भिजवाया है । अपने को नासमझ तथा बुद्धिहीन मानते हुये बुद्धि, तथा कृपा की याचना की है –

नजर जिस पर गई तुम्हारी, सभी सुख उसने पा लीना ।
राम लछमन को तुमने खुद-बहुत सहारा अथा दीना ॥
सिया माता को रावण ने चुरा के घर में भर लीना ।
तभी बलवान कहा जाकर, तबाह लंका को कर दीना ॥

एक स्थान पर ओ३म् नाम की स्तुति करने की सलाह ज्ञात पड़ती है । क्योंकि संसार रूपी नया के पार लगाने वाले वे ही तो हैं । अतः दुनिया के झगड़े त्याग कर ओ३म का भजन करो —

ओ३म नाम चित लाओ रे ।
पाप क्षमा हो जाय तुम्हारे, अच्छा फल तुम पाओ रे ॥

बनवास में साधु का वेश बनाकर धोखे से रावण माता सीता को चुराकर जो ले जाता है उस प्रसंग के भी चार भजन मिलते हैं । पहले भजन में रावण सीता को समझाता है कि राम और लक्ष्मण तो जंगल में निवास करते हैं, उनके पास तो कुछ खिलाने तक का नहीं है । मेरे घर पर जो आराम है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता । ऐसी अनेक बातें सिखाकर वह उसे अपने साथ चलने को कहता है । सीता निर्भीकता पूर्वक डाँट लगाती है और राम का भय बताते हुये कुल का नाश होने, रावण का सिर कटाने, और उसका मुँह तक न देखने की प्रतिज्ञा कर लेती है । तीसरे पद में रावण की सीता के लिये धमकी का वर्णन है और चौथे में सीताजी भगवान से प्रार्थना करती है —

मेरी नैया खिवैया तुम्ही हो यहां, हाय दूजा तो कोई सहारा नहीं ।
चारों दशा में अंधेरा पड़ा, कहीं आता उजाला नजर ही नहीं ॥

कवि ने हरिद्वार तीर्थ का भी वर्णन किया है। उसमे कुण्ड, हरि की पैड़ी, जल की तरंगें, विभिन्न मन्दिरों, गुफाओं, बाजार की सुन्दरता, सड़कों आदि सभी के बारे में वर्णन किया है। जब बाबू श्यामस्वरूप हरिद्वार गये तो वहां के प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक वातावरण से बड़े प्रभावित हुये । वहां की पवित्रता इस प्रकार कही गई है—

हरिद्वार के बराबर न पाक मुकाम कोई ।
हरि का ज़िक्र जहां पर खूब मचा हुआ है ॥
चारों तरफ से वहां पर–हर खास आम आते ।
हर मुल्क का जहां पर मेला लगा हुआ है ॥

कृष्ण की लीलाएं वंशी की प्रधानता लिये हुए होती हैं। एक भजन में तो वंशी की खोज बीन है। वंशी के खोजाने पर उसकी तलाश की जाती है। एक बार कृष्ण गेंद से खेल रहे थे, खेल ही खेल में गेंद ऐसी फेंक दी कि वह लापता होगई। कृष्ण तथा उनके सखा सभी राह चलती ग्वाल–बालाओं से गेंद तलाश करने लगे। उनसे पूछा जाता है:—

गेंद तुमने हमारी पाई कि नहीं ।

सो एक सखी यही उत्तर देती है —

मै तो जमुना नहान गई थी — नहीं जानूं गेंद तुम्हारी ।
क्यों गैल हमारी प्रभु है घेरी, इस दम तुमने ॥

इस प्रकार गेंद को लेकर ही विवाद होता है और तमाम ढूंढ खखोर होती है।

इस तरह से बाबू श्यामस्वरूप की कविताएं अनेक विषयों को लेकर आगे बढ़ी हैं। धार्मिकता तथा भक्ति भावना के रस में पगी इनकी कई कविताएं गेय भी हैं। इन जैसे अनेक कवियों की नींव पर हिन्दी काव्य–जगत की इतनी ऊंची मंजिल तैयार हो सकी है ।

—मेघनगर (झाबुआ) म० प्र०

● डॉ० मोतीलाल मेनारिया

वीरमायण' का निर्माण-काल

राजस्थानी की बोलियों मे मारवाडी का एक प्रमुख स्थान है । इसके तीन रूप देखने मे आते हैं—(१) बोलचाल की मारवाड़ी (२) साहित्यिक मारवाडी और (३) डिंगल ।

ढाढ़ी बादर का वीरमायण अथवा वीरमाण डिंगल भाषा का ग्रन्थ है । इसमें गद्य-पद्य दोनों हैं । इसका गद्य भाग बोलचाल की मारवाडी में और पद्य भाग डिंगल में है । पद्य भाग की अपेक्षा गद्य भाग इसमे बहुत थोडा है । इसमें १७५ दोहे १२६ नीसांणी छंद और १ चितइलोल गीत है । यह एक ऐतिहासिक काव्य है । इसमे भूतपूर्व मारवाड राज्य के राव वीरमजी के वीर कृत्यों का वर्णन है । इसकी विषय-वस्तु निम्न लिखित छह भागों में विभाजित की जा सकती है —

(१) जैतमाल का गुजरात के राड़धडा पर चढ़ाई करना एवं पवार अणा व नदा को गोठ में खूब मदिरा पिलाकर मार डालना तथा राड़धड़ा को अपने अधिकार मे कर लेना ।

(२) जगमाल का मांडू के बादशाह की लड़की गींदोली का अपहरण करना और उसके छुटकारे के लिए दोनों की सेनाओं में भिरड़कोट के पास युद्ध होना और जगमाल से हारकर बादशाह का गुजरात की तरफ भाग जाना ।

(३) वीरमजी का सिंध के जोइयों को शरण देना, धासावच राजपूतों के भावा गांव पर अपना अधिकार करना और कुंडाल में भाटियों के यहां विवाह करना ।

(४) जोइयो का वीरमदेव की गायों को घेर लेना, उनको छुड़ाने के लिए वीरमजी का जोइयों से युद्ध करना और लड़ते-लड़ते मारा जाना ।

---

१ यह ग्रन्थ राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, द्वारा प्रकाशित हुआ है । इस लेख के लिखने में अधिकतर इसी के पाठ को अपनाया गया है ।

(५) जोइया दल्ला का वीरमजी के पुत्र चूंडा का रणवास सहित काळाऊ गांव में आल्हा चारण के घर पहुंचना। कुछ दिन अपने पास रखकर आल्हा का चूंडा को मल्लीनाथ से मिलाना। चूंडा का मंडोवर पर अधिकार होना।

(६) वीरमजी के एक पुत्र गोगाजी का अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए जोइयों से युद्ध करना और वीरगति को प्राप्त होना।

थोड़े-बहुत अन्तर के साथ वीरमायण की उपरोक्त घटनाएं इतिहास-ग्रन्थों में मिलती हैं, जिससे धोखा खाकर अनुसंधानकर्ताओं ने इसे वीरमजी के समय (मृत्यु सं० १४४०)[1] का लिखा हुआ मान लिया है।

इस भ्रान्ति का एक कारण और भी है। वह यह कि इसका रचयिता इसमें एक स्थान पर लिखता है कि इस ग्रन्थ में मैंने अपनी आंखों देखा हाल लिखा है। उसके शब्द ये हैं:---

"गींदोली री लड़ाई में झगड़ा तीन तो रावल मालदेजी आपरै लोक सुं एकला किया। झगड़ो चौथो भाटी घड़सी रावळजी वीरमदेजी कुंवर जगमालजी सोलंपी माधोसिंघजी। पांचमो झगड़ो कवर जगमालसिंघजी एकलां भूतां रे जोर सैं कीइयां। पांचां झगड़ा में तीन लाप आदमीं पेत पड़ीया। अठी राठोड़ां रा आदमी लाप छा जांमां सुँ आदमी हजार पचीस पेत पड़ीया। माहाराई चक्र जुध हुवो। जोईया राठोड़ां कनै आया जिणसुँ वरस पांच पैला ओ झगड़ो हुवो छो। हूँ बादर ढाढी जोया रो छो। सो मैं पूछ नैं सुणी जिसी हगीगत सुँ वणावट करी। मारी उकत प्रमांण रावलजी जगमालजी वा कवरजी रिड़मलजी रै कैणै सुं जस वणायनै सुणायो। ओ झगडो हुआं पछै वरस वीस सूँ ओ ग्रन्थ वणाओ। जोया वरस पांच अठै राठोड़ां कनै रैया। जितै हुं जोयां साथै हो सो बात सारो सुं वाकब हुवो और वीरमदेजी मधुरे आपस में फूट पडी। झगडो हुवनै मारीजिया। वीरदेजी गोगादे की तांई जिसी वात सारी सुं मारै आंपीयां आगे हुई। मैं जोइयां रै नंगारै माथै छो। हेत वैर सारो निजरां देप्यो। पछै वीरदेजी काम आया। जां पछै तेजमाल जोयै सनै कैयो कै बादर सिरदार मारीजियां जिण तरै हुई थे देपी जिसी सारी

---

1 डा० ओझा; जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग १, पृष्ठ १९७।

हगीगत वरण करो। जरा जोइया राठोडा कनै आया। धीरदेजी मारीजिया जिता दिना में जो जो वात वा झगडो हुवो जिणो वरणो। तिणरी हाजरी जोया नै साह्री वाण में तेजल रै आगै दीना। राठोड़ा नै सेतरावे मडोरकेतु मै चुडैजी देवराजजी नै हाजरी दीनी। पछै चुडैजी मडोवर लीवो जिणरी हगीगत मनै कही। जिण रीत जस वणाय हाजरी दीवी। जा पछै नगर जाय जगमालजी नै था क वर रिडमलजी नै हाजरी दीनी। जद पैला झगडा हुया जकासुं हु वाकब हो। फेर कितीक हगीगत वा कही जिण मुजब पछै वणाय ग्रन्थ रै आद मै वरण दीनो छै। हु तै झगड़े मधु बीव.मजी रैं वात हुई जकण ठोड नैं कै दीनो छै नला सहा नीनड़ै सो जाणैं। अला मैं निजरा देपी वा काना सुणी जिण मुजब सची-सची वरणन करी छै। सो मारे मन्थ में भूल चूक हुवे तो कवी लोक सुधार लेसी।[1]

परन्तु यह सवथा झूठ है। उसक यह ग्रन्थ प्राचीन और प्रामाणिक माना जाय, इस उद्देश्य से उसने ऐसा लिखा है। वास्तव मे यह वीरमजी की समसामयिक रचना नहीं है। उनके निधन काल से लगभग ४५० वर्ष बाद में लिखी गई है।

अरावा[2] नाल[3] और सोर[4]

वीरमायण मे अनेक स्थानों पर युद्ध का वर्णन है। गींदोली को छुड़ाने के लिए मांडू के बादशाह और जगमाल में जो युद्ध हुआ उस सन्दभ में बादशाह द्वारा अराबा, नाल और सोर का उपयोग होने की बात कही गई है —

[१]

असुर गया रिण ओसके माले झकराया।
किलम अराबा त्यार कर दूज दिन आया ॥[5]

---

१ वीरमायण, पृष्ठ १५-१६।

२ अराबा=पहियों वाली बड़ी तोप।

३ नाल=बन्दूक।

४ सोर=बारूद।

५ वीरमायण, पृष्ठ ८।

[२]

मुरजां मुरजां भीरटगढ यह नाळ गड़कौ ।
सोर धुवा रिण घोर सुं धर धंवर दंवकौ ॥[1]

परन्तु इतिहासकारों के अनुसार ये चीजें पन्द्रहवीं शताब्दी में भारतवर्ष में उपलब्ध ही नहीं थीं। तोपों का प्रयोग यहां सर्वप्रथम बाबर ने महाराणा सांगा के विरुद्ध खानवा के युद्ध [सं० १५८४] में किया था।[2] इसी से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ पन्द्रहवीं शताब्दी का लिखा हुआ नहीं है। यदि यह उस समय का लिखा हुआ होता तो इसमें अराबा इत्यादि का वर्णन असंभव था।

अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द

वीरमायण की भाषा भी पन्द्रहवीं शताब्दी की नहीं है। इसमें अरबी, फारसी, और तुर्की भाषा के शब्दों की भरमार है। यथाः--जाहर, हुकम, हजूर, जोरावर, दरवेस, पीर, पतसाह, सुलताण, असमान, नेजा, पाहाड़, फुरमाण, दरगाह, फौज, समसेर, बखत, मोरचा, नगारो, हजार, बगतर, ढाल, जवाब, पोशाख, मुलक, दरबार, पेसकस, कबूतर, असर्फी, मुगल, खजाना, खपाया, तरफ, बेगम, लाणत, महल, तरवार, खामंद इत्यादि।[3]

पन्द्रहवीं शताब्दी में इस तरह की भाषा का चलन ही राजस्थान में नहीं था।

मुहणोत नैणसी की 'ख्यात' इतिहास विषयक सामग्री का एक अपूर्व और प्रामाणिक सग्रह है। नैणसी का जन्म सं० १६६७ मे और देहान्त सं० १७२७ में हुआ था। उस समय तक वीरमायण का पता भी नहीं था। यदि यह नैणसी के समय में

---

१ वीरमायण, पृष्ठ ८।

२ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया; भाग ४, १९३७, पृष्ठ १७।

३ इसमें एक स्थान पर 'बोतल' शब्द का प्रयोग भी हुआ है, जो अंग्रेजी शब्द Bottle का तद्भव रूप है। यथा--"बुकणका घर बोटिया साला सातुई। बोतल हातल बटीवा विमाह न होई।" --वीरमायण, पृष्ठ ३४ [पद्य संख्या ५२]।

उपलब्ध होता तो वह इसका अपनी ख्यात मे अवश्य उपयोग करता और उसका हवाला भी इसमे देता ।

नैणसी के बाद इतिहास सम्बन्धी सामग्री के सकलन का महत्वपूर्ण काय किया जोधपुर के कविराजा बांकीदास ने [स० १८२८—१८९०]। इनकी लिखी ख्यात प्रकाशित हो चुकी है । इसमे भी ढाढी बादर कृत वीरमायण का कहीं नामोल्लेख नहीं है ।

वस्तुत यह ग्रन्थ कविराजा बांकीदास की मृत्यु के बाद स १९०० के आसपास लिखा गया है, जिसकी पुष्टि इसकी हस्तलिखित प्रतियों से भी होती है । इसकी जितनी भी हस्तलिखित प्रतियां मिली हैं, वे सब स० १९०० के बाद की लिखी हुई हैं । इससे पूव की एक भी नहीं है ।

वर्ष १८ अक २

—गणगौरघाट, उदयपुर

डा० रामगोपाल शर्मा "दिनेश"

शिव का दार्शनिक स्वरूप

अति प्राचीन काल से ही भारतीय प्रतिभा प्राकृत जन के गुणगान की अपेक्षा ईश्वर के गुणानुवाद में अधिक प्रवृत्त रही है। जहां मानव-चरित्र का वर्णन अपेक्षित हुआ है, वहां भी कवियों ने उसपर अलौकिकता का आरोप करके संतोष प्राप्त किया है। भारतीय साहित्य के अनेक प्रमुख पात्र इसी संतोष-लाभ की भावना से ईश्वर तक पहुंचे हैं। राम और कृष्ण ही नहीं, इतिहास के पृष्ठों पर मनुज के रूप में अपना अधिकार सिद्ध करनेवाले निरीश्वरवादी महावीर और बुद्ध भी कवियों द्वारा भगवान् के आसन पर इसी लोभ के कारण प्रतिष्ठित किये गये हैं। ऐसे ईश्वरवादी देश के साहित्य मे शिव के ईश्वरत्व की सुरक्षा का कोई प्रयत्न न होता, वह कैसे सम्भव था ?

दर्शन वह आध्यात्मिक आधार है, जिसके बिना ईश्वर सम्बन्धी कोई भी भावना या कल्पना विकसित नहीं हो सकती। राम और कृष्ण भी जो भारतीय कवि की भावना और कल्पना में बहुत उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हुए, दार्शनिक समर्थन के अभाव में अपनी स्थिति की रक्षा नहीं कर सकते थे। इसीलिए विभिन्न दार्शनिक वादों के रूप में उनके महत्व का प्रतिपादन किया गया। शिव तो भारतीय भावना और कल्पना मे आरम्भ से ही ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित थे, अतः उनके सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का आविर्भाव कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

राम एवं कृष्ण में ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा के लिए कवियों को जिन दार्शनिक वादों से सहयोग मिला उनमे प्रत्यक्षतः ब्रह्म को चिन्तन का आधार बनाया गया है तथा उससे राम या कृष्ण का सम्बन्ध केवल अवतार के रूप में जोड़ा गया है, क्योंकि उनकी कथाएं प्रधानतः उनके लौकिक चरित्र पर आधारित है। किन्तु शिव-संबंधी कथाओं में अलौकिक आधार प्रधान है और उस आधार पर जिन भावनाओं एवं कल्पनाओं की धाराएं प्रवाहित हुई हैं,

उनमें सर्वत्र लोक-मंगल की आध्यात्मिक भावना अनुस्यूत है। यही कारण है कि शिव के संबंध में भारतीय दर्शन को एक नवीन क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा है। इस क्षेत्र में स्वयं 'शिव' ब्रह्म के स्थान पर प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। भारतीय दर्शन की यह शाखा शैव-दर्शन के नाम से प्रख्यात है तथा निम्नांकित पाँच प्रमुख सम्प्रदायों के रूप में इसका विकास हुआ है —

(१) प्रत्यभिज्ञा दर्शन,
(२) लिंगायत दर्शन या वीरशैवमत
(३) शैव सिद्धान्त
(४) नकुलीश या पाशुपत दर्शन
(५] रसेश्वर दर्शन,

इन सब सम्प्रदायों ने शिव को अनादि और अनन्त ब्रह्म के रूप में स्वीकार करते हुए भी जीव तथा जगत् के सम्बन्ध के साथ उनके स्वरूप पर अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। अतः हिन्दी-शिव-काव्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझने के लिए इन सभी सम्प्रदायों के अनुसार शिव के दार्शनिक स्वरूप का विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

१ प्रत्यभिज्ञा दर्शन

इस दर्शन का विकास कश्मीर में महादेवगिरि पर अंकित ७७ शिव-सूत्रों से माना जाता है। कहा जाता है कि स्वयं शिव ने वसुगुप्त नामक आचार्य को स्वप्न में इन सूत्रों का ज्ञान प्रदान किया था। उसने उन्हीं सूत्रों को स्मरण करके अपनी स्पन्दकारिका' नामक पुस्तक लिखी।[१] उसके दो शिष्यों-कल्लट और सोमानंद-ने क्रमशः स्पन्दशास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का प्रवर्तन करने का श्रेय प्राप्त किया। उसके पश्चात् सोमानंद के शिष्य उदयाकर ने प्रत्यभिज्ञासूत्रों की रचना की और आचार्य अभिनवगुप्त ने "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी' नामक टीका तथा 'तंत्रसार', 'तंत्रालोक" आदि अन्य ग्रन्थ लिखे। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञादर्शन दो भागों में विभाजित हो गया। यथा —

क — स्पन्द मत

१ शिवसूत्र विमर्शिनी, पृष्ठ २-३।

ख – प्रत्यभिज्ञा मत

किन्तु इन दोनों मतों में सामान्यतः अधिक अन्तर नहीं है। यथा:—

१. स्पन्दमत के अनुसार जब ध्यान के द्वारा मन के समस्त मलों का निवारण हो जाता है, तब शिव-साक्षात्कार की स्थिति उत्पन्न होती है; तथा

२. प्रत्यभिज्ञामत के अनुसार जीवन को "मैं शिव हूं" यह प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर ही शिव साक्षात्कार की स्थिति आती है।

अतः इन दोनों भेदों को गौण मानकर "प्रत्यभिज्ञादर्शन" के प्रमुख सिद्धान्तों के आधार पर यहां शिव के स्वरूप का विवेचन किया जाता है —

शिव—प्रत्यभिज्ञादर्शन में शिव को मूल तत्त्व माना गया है तथा उसी को आत्मा भी कहा गया है। शिवसूत्रविमर्शिनी [पृष्ठ ५], प्रत्यभिज्ञाहृदयम् [पृष्ठ २,८], मालिनीविजयोत्तरतंत्र [पृष्ठ ३] तथा नेत्रतन्त्र (भाग १. पृष्ठ ५४, ५५] आदि शैव-ग्रन्थों में आत्मा को चैतन्य, परमानन्दमय, परमेश्वर, परमशिव, सर्वज्ञ, प्रभु, परमधाम, परमपद, परमतेज, परमज्योति तथा परमामृत आदि अभिधान प्रदान किए गए हैं। यही आत्मा 'शक्ति' भी कहलाता है तथा ३६ तत्त्वों में अभेद भाव से स्फुरण करता है। 'शिव दृष्टि' में उल्लेख है:—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक्-क्रिया शिवः॥

—शिवदृष्टि १/२

शक्ति—शिव (आत्मा) अपने जिस रूप से विश्व का उन्मीलन करता है, उसी को शक्ति कहा गया है, जो शिव या आत्मा से पूर्णतः अभिन्न है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसी शक्ति के प्रमुख पांच रूप हैं। अभिनवगुप्ताचार्य ने 'तंत्रसार' मे शक्ति के इन पांच रूपों की विस्तार से व्याख्या की है। उनके मतानुसार आत्मा के प्रकाश रूप को चित् शक्ति, स्वतंत्रता को आनंद शक्ति, चमत्कार को इच्छा शक्ति, आमर्शात्मकता को ज्ञान शक्ति तथा सर्वाकार योग को क्रिया शक्ति कहते हैं।[1]

सृष्टि—शिव या आत्मा नामक मूल तत्त्व जब सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह नामक पांच क्रियाओं में रत होता है, तब सृष्टि उत्पन्न होती है।[2]

---

१ तंत्रसार, पृष्ठ ६

२ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ २१

तन्त्रालोक (भाग २, पृष्ठ ५३-५४)[1] में आचार्य अभिनवगुप्त ने इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है तथा लिखा है कि—

"जिस प्रकार दर्पण में नगर, वृक्ष आदि का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है उसी प्रकार इस चिदात्मा में संसार प्रकट होता है। तथा जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर, वृक्ष आदि दर्पण से पूर्णतः अभिन्न रहते हैं उसी प्रकार यह संसार भी उस चिद् शक्ति से पूर्णतः अभिन्न रूप में विद्यमान रहता है।"[1]

इस प्रकार सृष्टि या विश्व उस शिव या आत्मा का ही स्वरूप है। वही अपनी इच्छा से इसका उन्मेष करता है।[2] इस उन्मेष को प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'आभास' संज्ञा दी गई है।[3] प्रत्यभिज्ञा हृदयम् में भी "स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति" आदि कहते हुए यही स्पष्ट किया गया है कि यह शिव या आत्मा अपनी इच्छा से अपनी भित्ति पर अर्थात् स्वयं में समस्त विश्व का उन्मीलन करता है।

शिव, शक्ति और सृष्टि का अभेद

पूर्वोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन शिव, शक्ति और सृष्टि का अभेद स्वीकार करता है। तन्त्रालोक से भी इस मत का समर्थन होता है। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि समस्त सृष्टि या विश्व शक्तिसम्पन्न उस परम तत्त्व शिव में उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार समुद्र में तरंगें स्थित रहती हैं।[4] इस सम्बन्ध में तन्त्रालोक की मीमांसा का सार यह है कि सृष्टि या विश्व में जो कुछ भी दृष्टिगोचर और अनुभव होता है, वह सब उसी परम तत्त्व शिव (आत्मा) का शक्ति-प्रसार है। तथा वह सब में सदैव एवं सर्वत्र व्याप्त रहता है। ऐसा कोई पदार्थ या अनुभव नहीं है जो उससे रहित हो।[5] अतः उस परम ज्योति शिव या आत्मा से विभिन्न होने के कारण विश्व को भी नित्य प्रकाश रूप माना गया है।

---

१ तन्त्रालोक, भाग २, पृष्ठ ५३-५४।
२ प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृष्ठ ५, ६।
३ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १५३।
४ तन्त्रालोक, भाग २, पृष्ठ १४७,
५ वही, भाग १, पृष्ठ १३१-१३४।

मूल तत्त्व शिव (आत्मा) से ३६ तत्त्वों का विकास

प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जब शिव अपनी शक्ति से सृष्टि का आविर्भाव करने की इच्छा करता है, तब उससे ३६ तत्त्वों का विकास होता है। वे तत्त्व निम्नांकित हैं:—

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, सद् विद्या, माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्राएं (शब्द स्पर्श, रूप, रस, गंध) तथा पांच स्थूल भूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी)।

इनमें 'शिव' तत्त्व मूल तत्त्व होने के कारण समस्त विश्व का स्रष्टा एवं सर्वव्यापक है तथा केवल अहं द्वारा ही उसका अनुभव किया जा सकता है।[1] शक्ति शिव का अभिन्न अंग होने के कारण अपनी पृथक् सत्ता से हीन मानी गई है, परन्तु उसके पूर्वोक्त पांच रूपों से ही शिव भी पांच रूप धारण करता है। यथा—

"चित्प्राधान्ये शिवतत्त्वम्, आनंदप्राधान्ये शक्तितत्त्वम्, इच्छाप्राधान्ये सदाशिवतत्त्वम्, ज्ञानशक्तिप्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम्, क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्यातत्त्वम् इति।[2]"

अर्थात् वह शिव चित् शक्ति की प्रधानता रहने पर शिव तत्त्व, आनंद शक्ति की प्रधानता रहने पर शक्ति तत्त्व, इच्छा शक्ति की प्रधानता होने पर सदाशिव तत्त्व, ज्ञान शक्ति की प्रधानता होने पर ईश्वर तत्त्व तथा क्रिया शक्ति की प्रधानता होने पर सद् विद्यातत्त्व कहलाता है। इसीलिए स्वच्छंदतंत्र (भाग ५ व ५३५) में शक्ति तत्त्व को समस्त विश्व का आधार, सूक्ष्म तथा अमृत रूप बतलाया गया है। जिस प्रकार 'अहं' (मैं) से शिव तत्त्व का अनुभव होता है, उसी प्रकार "अहमस्मि" (मैं हूं) से शक्ति तत्त्व का अनुभव होता है। शिवदृष्टि (पृष्ठ ९६) मे यह स्पष्ट किया गया है कि शिव और शक्ति दोनों तत्त्व पृथक्-पृथक् वर्णित होने पर भी वास्तव में पृथक् नहीं हैं।

शिव-शक्ति से नाद रूप मे उत्पन्न तत्त्व सदाशिव कहलाता है। संसार का उन्मीलन और प्रलय उसीका एक रूप है।[3] इस सदाशिव तत्त्व का अनुभव 'अहमिदम्' (अहं=शिव+इदम्=विश्व) से होता है। चौथा तत्त्व 'ईश्वर' विश्व के उन्मेष का

---

१ ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १९६।

२ तन्त्रसार, पृष्ठ ७३-७४।

३ ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ १९४-९५

द्योतक है[1] तथा उसमे "इदमहं" (यह मैं हूं) का अनुभव होता है।[2] इस प्रकार ईश्वर तत्त्व में शिव गौण हो गया है तथा विश्व को प्रधानता मिल गई है। पञ्चम "सद् विद्या" तत्त्व के विषय मे मृगेन्द्रतन्त्र (१/१६८—६९) में उल्लेख है कि "समस्त पदार्थ-ज्ञानोपरान्त जिस शक्ति द्वारा अणु जीव को परमेश्वर का बोध होता है, वही सद् विद्या है।" इस तत्त्व के द्वारा "अहमिदमस्मि" (मैं यह विश्व हूं) का बोध होता है। इस प्रकार इस तत्त्व में उदय तथा प्रलय दोनों को स्थान मिला है।

पूर्वोक्त पांच शुद्ध तथा अभेद तत्त्वों के पश्चात 'माया' तत्त्व का स्थान है, जो शेष समस्त अशुद्ध एव भेद-तत्त्वों को आवृत करता है। यह तत्त्व शिव से अभिन्न होने पर भी भेद-पूर्ण समस्त सृष्टि को जन्म देने का मूल कारण है।[3] जीव चित शक्ति के प्रकाश को इस 'माया' तत्त्व के आवरण के कारण ही हृदय-गत करने में असमर्थ रहता है।[4]

सातवां 'कला' तत्त्व माया-जन्य अन्धकार मे जीव को क्रिया एव ज्ञान के लिए अल्प प्रकाश प्रदान करता है। विद्या नामक आठवां तत्त्व इस कला तत्त्व से उत्पन्न होकर बुद्धि में भावों के प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है तथा उसका ज्ञान देता है। नवां 'राग' तत्त्व सभी प्रकार के योग्य पदार्थों में गुणों का आरोपण करता तथा चिद् शक्ति आदि के प्रति अभिलाषा जगाता है। माया-जन्य कला से उत्पन्न 'काल' नामक दसवां तत्त्व बोध एवं क्रिया की सीमा निर्धारित करता है। ग्यारहवां तत्त्व नियति कार्य कारण की योजना करता है।[5]

जब प्रथम पांच शुद्ध तत्त्वों वाला आत्मा माया से नियति तक के षट् कंचुकों या आवरण मलों द्वारा आवृत होकर सीमित हो जाता है, तब उसे अणु या पुरुष की संज्ञा

---

१ ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग २, पृष्ठ १९८–९५

२ तंत्रालोक भाग ६, पृष्ठ ५०

३ वही भाग ६ पृष्ठ १२८

४ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, भाग २, पृष्ठ ३०।

५ तंत्रालोक, भाग ६, पृष्ठ १६०–६१

प्राप्त होती है। 'जीव' या 'प्रमाता' भी उसी के अन्य नाम हैं।[1] सत रज और तम के साम्य रूप को प्रकृति नामक तेरहवां तत्त्व कहा गया है, जो बुद्धि से पृथ्वी तक के शेष २३ तत्वों को उत्पन्न करता है।[2]

जीव और उसका बन्धन तथा मोक्ष

आत्मा या शिव जो मूल तत्त्व है, प्रथम पाच तत्वों तक शुद्ध तथा स्वतंत्र रूप में अपना विस्तार करता है। किन्तु, जब वह स्वेच्छा पूर्वक छठे तत्त्व से ग्यारहवें तत्त्व तक के षट् कचुकों या आणव मलों से आवृत हो जाता है, तब वह बधन में पड़कर विभिन्न जीवो का रूप धारण करता है। पूर्वोक्त षट् मलो को पाश कहते हैं। अतः उनसे आवृत जीवात्मा ही पशु भी कहलाता है। वह शेष २३ तत्वो तक सीमित रहकर जब तक स्वय को सांसारिक क्रियाओं का कर्ता मानता रहता है, तब तक वह 'पशु' बना रहता है, किन्तु जब वह शांभव, शाक्त या आणव उपायो से "शिवोऽहम्" (मैं शिव हूं) का अनुमान करने लगता है या विकल्प रूपी दर्पण मे आत्म-रूप का साक्षात्कार प्राप्त कर लेता है, तब वह मुक्तावस्था में पहुंचकर स्वय पशुपति या 'शिव' रूप को प्राप्त होता है।[3]

शिवत्व-प्राप्ति की अवस्थाएं

जीव की इस शिवत्व की प्राप्ति पांच अवस्थाओं मे होती है। वे अवस्थाएं हैं— जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा तुरीयातीत। प्रथम अवस्था में जीव प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमा से युक्त होकर जड़-चेतन-मय विश्व के विभिन्न विषयों की बाह्येन्द्रिय-जन्य ज्ञान स्थिति मे रहता है। दूसरी अवस्था में उसमे विकल्पात्मक स्थिति तथा प्रमाण की प्रधानता रहती है। तीसरी अवस्था मे वह आत्मा मात्र की स्थिति मे विश्राम पाता है। चौथी अवस्था में वह जीव या प्रमाता केवल प्रमात्मक रूप को प्राप्त कर लेता है, किन्तु इसमें भी जीव के साथ 'प्रमा' शेष रह जाती है। पाचवी अवस्था में जीव पूर्ण शुद्ध

---

१ तंत्रालोक भाग ६, पृष्ठ १६५

२ वही, भाग ६, पृष्ठ ७७-१८१

३ वही, भाग २, पृष्ठ २५१-२५३

एवं सर्वातीत होकर 'आत्मा' रूप में स्थित निज शिवत्व को प्राप्त होता है और संसार के बन्धन से मुक्त होकर पशु से पशुपति या 'शिव' बन जाता है।[1]

जीव का चरम लक्ष्य

पूर्वोक्त अनुशीलन से स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार जीव, जगत् और शिव एक हैं—अद्वैत हैं—उनमें कोई भेद नहीं है, केवल आणव मलों से आबद्ध होकर पुरुष से पृथ्वी पर्यन्त २३ तत्वों का बाह्येन्द्रियों द्वारा बोध करने के कारण शिव या आत्मा जीव या पशु का रूप धारण करता है। इस पशुत्व का त्याग कर तुरीयातीत अवस्था में शिवत्व का प्राप्त करना जीव का चरम लक्ष्य है, जो आनन्द की पूर्ण समरसावस्था है। यह अवस्था इच्छा, ज्ञान, क्रिया के त्रिभेद का लोप होने पर 'शिवोऽहम्' की स्थिति में ही जीव को प्राप्त होती है। अतः सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि 'शिवोऽहम्' की स्थिति को प्राप्त करना जीव की विश्व-यात्रा का चरम लक्ष्य है।

२ लिंगायत दर्शन या वीर शैव मत

कलचुरी के राजा विज्जल के मंत्री 'बसव' ने 'बसव पुराण' लिखकर इस मत का प्रचार किया। कर्नाटक प्रदेश इस मत का प्रमुख क्षेत्र है। इस मत के अनुयायी शिव-लिंग की पूजा ही नहीं करते, बल्कि उसे गले में भी डाले रहते हैं। इसीलिए वे लिंगायत कहलाते हैं।

इस मत को सैद्धान्तिक दृष्टि से 'शक्ति-विशिष्टाद्वैत वाद" नाम दिया गया है। "भेदाभेद" अथवा "द्वैताद्वैत" दर्शन भी इस मत के अन्य नाम हैं।[2]

लिंगायत दर्शन में शिव को शून्य-रूप, शक्ति-विशिष्ट तथा स्थूल एवं सूक्ष्म समस्त विश्व का परम कारण माना गया है। उससे सर्वप्रथम विमर्श या इच्छा शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यह विमर्शशक्ति 'सूक्ष्म चिदचिदात्मिका शक्ति" कहलाती है। चिद् रूप में यह स्वतंत्रता से युक्त रहती है तथा अचिद् रूप में सर्वकर्तृत्व से युक्त मानी जाती है। सृष्टि का विकास करनेवाले त्रिगुण इसी शक्ति में अन्तर्निहित रहते हैं।

---

१ तन्त्रालोक, भाग ७, पृष्ठ १४७ से १८८ तक।

२ देखिए, ए हैण्डबुक आफ वीर शैविज्म-डा० नदीमठ, पृष्ठ ६६-६७

जीव शिव का अंश है, जो स्थूल चिदचिदात्मिका शक्ति से विशिष्ट माना गया है। इस प्रकार शिव (जो अंशी है) और जीव (जो अंश है) में केवल सूक्ष्म और स्थूल का भेद है, जो शिव की अभिन्न विमर्श शक्ति से प्रादुर्भूत है। यह विमर्श शक्ति, जिसका दूसरा नाम इच्छा शक्ति भी है, ज्ञान शक्ति को उत्पन्न करती है तथा ज्ञान-शक्ति से क्रिया-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। यों शिव और शक्ति दोनों समस्त चराचर जगत् का क्रमशः निमित्त तथा उपादान कारण बनते हैं।[1]

लिंगायत दर्शन के अनुसार शिव, जीव तथा जगत् तीनो सत्य हैं एवं तीनों में कोई मूल भेद नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शिव ही अपनी अभिन्न शक्ति के स्फुरण से अंश-रूप में जीव और जगत् का रूप धारण करते हुए अंशी भाव से सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। अंश रूप जीव को अंशी रूप शिव में लय होने के लिए 'भक्ति' से 'ऐक्य' पर्यन्त षट् सोपानों को पार करना पड़ता है।[2] अन्तिम सोपान पर पहुंचकर जीव शिव में अभेद रूप में लय हो जाता है। शिव और जीव की यह अभेदता या एकता कर्म और ज्ञान की साधना से प्राप्त होती है। अतः लिंगायत दर्शन जगत् की सत्यता का प्रतिपादन करता हुआ वीरता-पूर्वक ज्ञान और कर्म की साधना के प्रवृत्तिमार्ग का समर्थन करता है तथा शिव में लय होने को जीव का चरम लक्ष्य मानता है। शिव और जीव का यह एकाकार होना ही लिंगायत दर्शन में पतिप्रादित वह मुक्ति है जो शिव की कृपा से ही संभव है।

३ शैव सिद्धान्त

'शैव सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध इस दर्शन का विकास तमिल प्रदेश में प्रचलित शैव मत के विचारको ने किया। शिव को इस दर्शन मे ससार का मूल कारण, शक्ति को उनकी सहायिका तथा महामाया या बिन्दु को ससार का उत्पादन कारण माना गया है। प्रारभ मे शिव शक्ति के साथ लयावस्था मे रहते हैं, किन्तु सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह नामक अपने पांच कृत्यों के सम्पादनार्थ वे लयावस्था से क्रियावस्था में आते हैं। उनके साथ सृष्टि का उपादान कारण होने कारण बिन्दु या महामाया का भी विवृति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यातीत नामक पांच अवस्थाओं में विकास होता रहता है। शान्त्यातीत अवस्था में पहुंचकर महामाया लयावस्था को प्राप्त हो जाती

---

१. ए हैण्ड बुक आफ शैविज्म, डॉ० नदीमठ, पृष्ठ ९६-९७

२ वही, पृष्ठ ९

है ।[1] वस्तुतः यह महामाया शिव की शक्ति का ही वह रूप है, जिसके द्वारा वे सृष्टि के विकास और विलय में अपनी चेतन एवं निर्विकार शक्ति की सहायता से प्रवृत्त होते हैं ।

इस दर्शन में शिव को पति भी कहा गया है । जब वह सृष्टि कर्म में प्रवृत्त होता है तब जीव और मलों की उत्पत्ति होती है, जिन्हें क्रमशः पशु तथा पाश की संज्ञाएं दी गई हैं । जीव जब तक आणव, काम तथा मायीय नामक तीन प्रकार के मलों से या पाशों से आवृत रहता है, तब तक वह 'पशु' कहलाता है, किन्तु जब उनसे मुक्त हो जाता है तो शिव-रूप में स्थित हो जाता है— पति और पशु का भेद मिट जाता है । किन्तु इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए शिव का अनुग्रह जिसे शक्तिपात कहते हैं, आवश्यक होता है । इसीलिए इस दर्शन में भक्ति को महत्व-पूर्ण स्थान मिला है । ३६ तत्त्व इस दर्शन में भी स्वीकृत हुए हैं, किन्तु उनका विकास शिव की माया शक्ति से शुद्ध तथा अशुद्ध दो रूपों में माना गया है ।[2] शैव सिद्धान्त में स्थान पानेवाली यह माया वेदान्त की माया के समान मिथ्या न होकर नित्य और शिव से अभिन्न स्वीकार की गई है ।[3]

४ नकुलीश (लकुलीश) या पाशुपत दर्शन

पाशुपत दर्शन में शिव को पशुपति की संज्ञा दी गई है तथा उन्हें समस्त विश्व का 'कारण' बतलाया गया है । 'कारण' के अतिरिक्त इस दर्शन में कार्य, योग, विधि तथा दुःखान्त नामक चार अन्य पदार्थ भी माने गए हैं ।

कार्य' के पशु, कला तथा विद्या नामक तीन भेद हैं । यह पदार्थ पूर्णतः कारण के अधीन है । योग और विधि क्रमशः धर्मार्थ के साधक व्यापार तथा जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध-हेतु हैं और उनके द्वारा समस्त दुःखों की निवृत्ति ही 'दुःखान्त' कहलाती है, जिसका दूसरा नाम मोक्ष भी है ।

'जीव' शिव का एक अंश है जो स्वतन्त्रता पूर्वक अपने अंशों में लय रहता है । किन्तु जब वह 'पाश से आबद्ध हो जाता है तो पशु' कहलाने लगता है । उसकी दो

---

१ कल्याण, साधनांक, में 'तान्त्रिक दृष्टि' लेख । लेखक—गोपीनाथ कविराज ।

२ The Idia of good in shaiva sidhanta page, 1-8

३ सर्वदर्शन संग्रह—वेंकटेश्वर प्रेस, सं० १७८२, पृष्ठ १६०–६१

कोटियां मानी गई हैं— सांजन तथा निरंजन। प्रथम अवस्था में यह 'शरीर'—विशिष्ट होता है और द्वितीय अवस्था में शरीर के बन्धन से मुक्त रहता है। अविद्या, कर्म तथा माया नामक तीन वे पाश या मल हैं, जो जीव को आबद्ध रखते हैं। जब जीव 'पाश' से मुक्त होने की कामना लेकर पशुपति से चित्त के द्वारा अपना योग स्थापित करता है तथा भस्म, उपहार, जल आदि के द्वारा अपने समस्त दुखों का अन्त करने में समर्थ होता है, तब वह पाशमुक्त होकर पशुपति से अभिन्न होने का अनुभव करता हुआ शिव-रूप में स्थित हो जाता है। पाशुपत दर्शन के अनुसार यही जीव की मोक्षावस्था है।[1]

५- रसेश्वर दर्शन

'सर्वदर्शन-संग्रह' में इस दर्शन का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है। इस दर्शन में शिव को परमानंददाता, परम ज्योति स्वरूप तथा अविकल्प बतलाया गया है। जीव को उसके इस स्वरूप का अनुभव होते ही समस्त कर्म-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।[2] इस दर्शन की साधना में शरीर को ब्रह्म या शिव के साक्षात्कार के योग्य दिव्य बनाने के लिए पारद या रस को, जो शिव का वीर्य माना जाता है, महत्त्व-पूर्ण स्थान मिलता है। वस्तुतः इस दर्शन का सिद्धान्त-पक्ष अधिक स्पष्ट तथा पुष्ट नहीं है। कुछ विद्वान तो इसे शिव के स्वरूप का विवेचन करनेवाले दर्शनों में स्थान देना उचित भी नहीं समझते।

निष्कर्ष

पूर्वोक्त अध्ययन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दर्शन में शिव को पूर्ण ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है। समस्त सृष्टि उन्हीं की अभिव्यक्ति मानी गई है। वे निर्विकार तथा शून्य रूप होते हुए भी समस्त जगत का सृजन पालन एवं संहार करते हैं। वे अनादि, अखण्ड, अनन्त तथा परम ज्योतिमय एक ऐसा परम तत्त्व हैं, जिससे ३६ तत्वों के रूप में अखिल विश्व-प्रपंच पैदा होता है। शक्ति और जीव उनसे भिन्न नहीं हैं। इच्छाशून्य होने पर वे शक्ति और जीव को आत्म-लय करके निर्विकार तथा शून्यावस्था में रहते हैं, किन्तु जब उनमें इच्छा का स्फुरण होता है, तो

---

१ देखिए, सर्वदर्शन संग्रह, द्वितीय संस्करण, १६२८ ई०, लेखक-सायण माधव, पृष्ठ६२-६४

२ देखिए, सर्वदर्शन संग्रह, पृष्ठ ८३।

वे ३६ तत्त्वों में व्यक्त हो जाते हैं। जीव उन्हीं शिव का एक रूप है तथा जगत भी उन्हीं की एक विराट अभिव्यक्ति है। शैव दर्शन के अनुसार जीव और जगत का अपना स्वतंत्र अस्तित्व न होते हुए भी वे दोनों मिथ्या या असत्य नहीं हैं, क्योंकि सदैव शिव के अन्तर्गत ही उनका सृजन और संहार या प्रलय होता रहता है। वेदान्त में जीव और ब्रह्म की अद्वैतावस्था का प्रतिपादन करने के लिए संसार को माया-जन्य और मिथ्या बतलाया गया है, साथ ही मिथ्या जगत की प्रतीति करानेवाली माया भी उसके अनुसार मिथ्या है, किन्तु शैव दर्शन में माया सत्य शिव का ही एक तत्त्व है। अतः वह मिथ्या नहीं है। वेदान्त का ब्रह्म जीव से अभिन्न है किन्तु जगत को मिथ्या मानने के कारण जीव की जागतिक सत्ता को भी मिथ्या माना गया है। शैवदर्शन जगत को भी शिव ही मानता है। अतः उसमें जीव शिव से ही अभिन्न नहीं है, जगत से भी अभिन्न है तथा जगत् शिव से अभिन्न है। यों भेद की प्रतीति मात्र होती है मूलतः तीनों अभिन्न तथा अभेद एक ही सत्ता हैं। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जगत को माया-जन्य और मिथ्या मानने के कारण उससे जीव को संन्यास लेना पड़ता है किन्तु शैवदर्शन में सन्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल 'अहंता' का आत्म-ज्ञान से क्षय होने पर शिवत्व बोध जाग्रत हो जाता है और ऐसी स्थिति में संसार में रहते हुए भी मोक्ष की अखण्ड आनन्द-मय स्थिति समरसता को भोगा जा सकता है। अतः शैवदर्शन विरक्ति मूलक नहीं है, एक अनुरक्ति-मूलक दर्शन है—उसमें जगत् के निषेध की नहीं, भोग की स्वीकृति निहित है।

—●—

● श्री रामवल्लभ सोमानी

ब्राह्मणवाड़ के गुहिल राजा : एक ग्रंथ-प्रशस्ति

आमेर शास्त्र भंडार जयपुर में अपभ्रंश का "प्रद्युम्नचरित" नामक एक ग्रंथ संगृहीत है। इसकी ३ प्रतियां यहां विद्यमान हैं। इस पुस्तक को प्रारम्भ में दी गई प्रशस्ति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें ब्राह्मणवाड़ के गुहिलवंशी शासक भल्लिम और मालवे के शासक बल्लाल का उल्लेख है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रशस्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

महारावल समरसिंह के वि० सं० १३३१ के लेख में "गुहिलवंशमपात शाखम्"[1] वर्णित किया है। इस बात की पुष्टि हाल ही में बागड़ के गुहिल वंशी राजाओं के लेखों से हो गई है, जिससे ज्ञात होता है कि मेवाड़ मे राज करनेवाले गुहिलवंशी शासकों के अतिरिक्त बागड़ मे भी इसी वंश के कुछ शासक लगभग ७ वीं शताब्दी से ही राज कर रहे थे। हर्ष संवत ४८ के एक दानपत्र में जो राजा भाविहित का है, उसे "गुहिलपुत्रान्वये सकलजनमनोहरः[2]" कहा है। इसी प्रकार का उल्लेख राजा वाभट्ट के दानपत्र में भी है। उसमें भी "गुहिलनराधिपवंशे गुणमणिगणकिरण-रञ्जित" आदि उल्लेखित है। मेवाड़ में गुहिलवंशी राजाओं का सबसे पहला लेख शीलादित्य का सामोली ग्राम का है जो वि० सं० ७०३ का है। ये उपरोक्त लेख भी लगभग इसी शताब्दी के आसपास के हैं और इनमें दी गई वंशपरम्परा मेवाड़ के राजाओं की वंशपरम्परा से भिन्न है। अतएव प्रतीत होता है, गुहिल या गुहदत्त का समय जो ओझाजी ने मेवाड़ के इतिहास में माना है, उससे भी बहुत पहले होना चाहिये।

---

१. भावनगर इन्स्क्रिप्शन, पृ० ७४। इसकी पूरी पंक्ति इस प्रकार है—
प्रत्यर्थिवामनयनानयनांबुधारा संवर्धित' क्षितिभृता शिरसि प्ररूढः।
य. कुंठितारिकरवालकुटारधारस्तं व्रूमहे गुहिलवंशमपात शाखम्॥

२ इपिग्राफिआ इंडिका vol. 35. part II एवं vol. 34, page 160-62.

"नगर" ग्राम से प्राप्त वि० सं० ७४६ के लेख में गुहिलवंशी[1] शासकों का उल्लेख है। इसे चाटसू के लेख से मिलाने पर ज्ञात होता है कि उक्त संवत तक उस वंश में कई शासक हो चुके थे जो भी भर्तृपट्ट के वंशज थे जो गुहिल वंशी था। अतएव इस वंश की कई शाखायें होना भी निश्चित है। ब्राह्मणवाड में, जो बागड से लगा हुआ है, गुहिल वंशी शासक रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। दुर्भाग्य से इस प्रशस्ति में इस वंश के अन्य शासकों का उल्लेख नहीं हुआ है। इसका रचना काल वि० सं० १२०२ और १२०८ के मध्य है। क्यों कि इसमें मालवे के शासक बल्लाल का उल्लेख है जो उक्त संवत में हुआ था। अतएव निश्चित है कि इस संवत के आसपास बागड से लगे इलाके में गुहिलवंशी शासक राज्य कर रहे थे। इस राजा का बागड में १२ वीं शताब्दी से राज्य करनेवाले भर्तृपट्ट वंशी गुहिलराजाओं से सम्बन्ध रहा प्रतीत नहीं होता है। ये राजा तो मालवे के इंगोदा से[2] बागड़ में आये थे।

प्रद्युम्नचरित की इस प्रशस्ति में इस गुहिलवंशी राजा का उल्लेख मात्र है। इसे परमार राजा बल्लाल का[3] सामन्त राजा वर्णित किया है। बल्लाल के सम्बन्ध में परमारों की वंशावली में पूरा वर्णन नहीं है। इसी कारण पुरातत्त्वविद् श्री कीलहार्न इसे अज्ञात वंशी मानते हैं तथा श्री सी० वी० वैद्य ने इसे यशोवर्मा का विरुद मात्र माना है। किन्तु इस ग्रंथ की प्रशस्ति में इसे रणधवल का पुत्र स्पष्टतः उल्लेखित किया है। अतएव मालवे के इतिहास में उल्लेखित अस्पष्टता दूर हो गई है। इसमें बल्लाल और अर्णोराज के युद्ध करने का भी उल्लेख है। अतएव इस घटना के अध्ययन के पूर्व मालवा की मुख्य घटनाओं पर दृष्टि डालना आवश्यक है।

---

१ जर्नल आफ राजस्थान इन्स्टीट्यूट आफ हिस्टोरिकल रिसर्च, vol III, No 3, पृ० 33

२ इंगोदा के लेख में राजा पृथ्वीपाल तिहुणपाल और विजयपाल का उल्लेख है। यह लेख वि० सं० ११९० का है। इस परिवार के सूरपाल का लेख वि० सं० १२१२ का और अमृतपाल का वि० सं० १२४२ का दानपत्र बागड़ क्षेत्र से मिला है।

३ बाह्मणवाड़ णामे पट्टणु।
अरियणणाह सेणदल वट्टणु।

परमार राजा नरवर्मा के समय से ही मालवा की स्थिति बड़ी संकट पूर्ण हो गई थी। अजमेर के चौहान और गुजरात के सोलंकी दोनों ही मालवा की ओर दृष्टि लगा रहे थे। चौहान राजा अजयराज[1] ने मालवे पर आक्रमण करके नरवर्मा को हराया भी था। किन्तु गुजरात के सोलंकियों के निरन्तर आक्रमण से मालवे की शक्ति को बड़ा भारी धक्का लगा। चालुक्य जयसिंह ने यशोवर्मा को बन्दी बना लिया एवं मालवा का अधिकांश भाग अपने राज्य में मिला लिया। यह घटना वि० सं० ११६० के आसपास[2] सम्पन्न हुई थी। इसी समय का इंगोदा का लेख मिला है जिसमें गुहिलवंशी शासक अपने आपको "परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वर" वर्णित करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में परमारों का राज्य कालीसिंधु के आसपास एक छोटे से भूभाग पर ही रह गया था। सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु के बाद कुमारपाल उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसे हराकर बाहड़ को राज्य दिलाने का षडयंत्र कुछ सीमावर्ती राजाओं के सहयोग से किया गया। इनमें उल्लेखनीय अजमेर के चौहान राजा अर्णोराज, आबू का परमार राजा विक्रमसिंह और नाडोल का राजा रायपाल आदि थे। वि० सं० १२०१ के आसपास आबू के निकट युद्ध में अर्णोराज की हार हुई और कुमारपाल ने आबू और नाडोल के शासकों को परिवर्तित कर दिया[3] और वहां दूसरे शासक लगाये। इसी समय के लगभग बल्लाल ने मौका पाकर मालवे पर अधिकार कर लिया।

जो भुंजइ-अरिण खय काल हो
रणधोरिय हो सुअहो बल्लाल हो।
जासु भिन्चु दुज्जण मण-सल्लणु
खत्तिउ गुहिल उत्तु जहिं भुल्लणु ॥

१ अरली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ३८–३९।

२, "नवपद लघुवृति" नामक एक ग्रंथ की प्रशस्ति में सिद्धराज जयसिंह को "अवन्तिनाथ" की उपाधि के साथ उल्लेखित किया है जो वि० सं० ११९२ की है। अतएव उक्त विजय इसके पूर्व अवश्य सम्पन्न होनी चाहिये (हिस्ट्री आफ नोदर्न इंडिया फ्रोम जैन सोर्सेज, पृ० ११२)।

३ इपिग्राफिया इंडिका, भाग ८, पृ० २००। अरली चौहान डाइनेस्टीज, पृ० ५२। वि. सं. १२०१ के कुमारपाल के सिद्धेश्वर के दानपत्र में उसे शाकम्भरी भूपाल की उपाधि दी

इस प्रशस्ति मे बल्लाल के पिता का नाम रणधीर या रणधवल दिया है। यह उदयादित्य का पुत्र रहा प्रतीत होता है। कथाओं मे वर्णित है कि उदयादित्य[1] के दो रानियां थीं-(१) बाघेली और (२) सोलकिनी। बाघेली प्रेमपात्र थी। अतएव उसके पुत्र रणधीर या रणधवल को युवराज बना दिया और दूसरे पुत्र जगद्देव को मालवा छोड़ना पड़ा आदि आदि। इस कथा मे ऐतिहासिक सार कितना है यह बतलाना कठिन है किन्तु उससे उदयादित्य के रणधीर नाम का एक पुत्र होना सिद्ध होता है। बल्लाल सभवत इसी का पुत्र था।

प्रस्तुत प्रशस्ति मे बल्लाल के साथ अर्णोराज के युद्ध करने का उल्लेख है। यहाँ अर्णोराज के लिये "कालस्वरूप[2]" शब्द उल्लेखित किया है। जो उल्लेखनीय है। चालुक्य प्रशस्तियों और साहित्यिक साधनों के आधार पर बल्लाल को एक प्रबल शासक वर्णित किया है। प्रभास पाटन के लेख में उसे धारा का पति बतलाया है[3]। द्वयाश्रय-काव्य मे उसे उज्जैन आदि का स्वामी बतलाया है। बडनगर[4] की कुमारपाल की प्रशस्ति और आबू की अन्य प्रशस्तियों मे उसे 'मालवपति" नामसे उल्लेखित किया है। अतएव प्रतीत होता है कि उसने मालवा को गुजरात के राजाओं के अधिकार से मुक्त करालिया था। दोहद के वि० स० ११९६ के लेख में सिद्धराज जयसिंह का उल्लेख है। किन्तु वि० स० १२०२ के लेख के अश में चालुक्य शासको का उल्लेख

हुई है। यथा— 'श्री मज्जयसिंहदेवपादानुध्यातपरमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वर-निजभुजविक्रमरणागणविनिर्जितशाकम्भरीभूपाल श्रीमत्कुमारपालदेव — अतएव यह घटना इस सवत के पूर्व अवश्य हो जानी चाहिए।

१ फार्ब्सकृत- रासमाला, भाग १, पृ० १७१ एव परमार शदर्पण, पृष्ठ ७८।

२ जो भुजइ-अरिण स्वय काल हो।
रणधोरिय हो सुन्दो न लाल हो ॥

३ श्रीमद्वीरकुमारपालनृपतिस्तद्राज्यसिंहासनम्।
आचक्राम झटित्यचिन्त्यमहिमा बल्लालधराधिप ॥१०॥

४ हठाक्रान्तिमालवेश्वरशिर पद्मेन यश्चाहर-
ल्लीलानकनकप्रहृष्यसनिनीं चौलुक्यराजान्वय ॥१५॥

नहीं है । अतः प्रतीत होता है कि इस वर्ष के आसपास यानी १२०२ वि० में इसे गुजरात वालों से जीत लिया था । इसके पश्चात् अर्णोराज के साथ इसका युद्ध हुआ हो । चौहान लेखों में अवश्य इसका उल्लेख नहीं है । द्वयाश्रय काव्य से प्रकट होता है कि दोनों शासकों ने सम्मिलित हो कर गुजरात[1] के राजा पर आक्रमण किया था । यह घटना वि० सं. १२०७[2] के लगभग हुई थी । प्रतीत होता है कि इसके पूर्व अवश्यमेव एक बार अर्णोराज और बल्लाल के मध्य युद्ध हो चुका था । इसके पश्चात् इसे अर्णोराज ने अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के लिये सहायक बना लिया प्रतीत होता है । क्यों कि अब नाडोल और आबू के शासक वि० सं० १२०१ के समय के अनुसार उसके सहायक नहीं रहे थे । द्वयाश्रय काव्य से ही प्रकट होता है कि जब कुमारपाल अर्णोराज के विरुद्ध[3] अभियान की तैयारी कर रहा था उस समय उसे सूचना दी गई कि बल्लाल भी सेना सहित आरहा है तो उसने अपने सामन्त विजय और कृष्ण को लगाये आदि-आदि । इसके पश्चात् की घटना की इसमें चर्चा नहीं है । इसपर और शोध किया जावे तो और कई घटनायें प्रकाश में आ सकती हैं ।

इस ग्रंथ का रचयिता सिंह नामक कोई विद्वान था, जो इसे अपूर्ण अवस्था में छोड़ गया, जिसे सिद्ध नामक एक विद्वान ने पूर्ण किया था ।

---

१ द्वयाश्रयकाव्य, XVI, श्लोक ८ ।

२ कुमारपाल के पाली भंग का प्रकरण "पचाशकप्रकरणवृत्ति" नामक एक हस्तलिखित ग्रंथ, जो जैसलमेर भण्डार में संग्रहीत है, उल्लेखित है । यह प्रशस्ति वि०सं० १२०७ की है । इस में स्पष्टतः उल्लिखित है कि जब पाली भंग हुआ तो वह लेखक त्रुटित पुस्तक को लेकर अजमेर चलागया—

सप्तोत्तरसूर्यगते विक्रमसंवत्सरोत्वजयमेरौ ।
पालीभंगे त्रुटितं पुस्तकमिदमग्रहीततदनु ॥

चित्तौड़ के लेख में इस घटना का उल्लेख है, जो वि० सं० १२०७ का है ।

३ द्वयाश्रयकाव्य, XIX, श्लोक ९७–९२ ।

प्रशस्ति का अंश इस प्रकार है —

घत्ता

मालसु सविकल्लहि हियउ ममेल्लहि मज्झु ववणु इयदिठु करहि ।
हेउ मुणिवत्त वसे कहयि विसेसें, कव्वु किपि त तुहु करहि ॥ १ ॥
ता मलधारि देउ मुणि-पुगमु । णं पच्चक्ख धम्मु उवसमुवमु ॥
माहवचद आसि सुपसिद्धउ । जो खमदम-जम-णियम-समिद्धउ ॥
तासु सीसु सय-तेय-दिवायरु । वय तव-णियम-सील-रयणायरु ॥
तवक लहरि झकोलिय परमउ । पर वायरण-पवर-पसरिय पउ ।
जासु भुवरा दूरतर वकिवि । ठिउ पच्छण्णु मयणु आसकिवि ॥
अभयचदु णामेण भडारउ । सो विहरन्तु पत्तु बुह सारउ ।
सरिसर-णंदण-वण-सच्छण्णउ । मठ-विहार-जिण भवण रवण्णउ ।
बह्मणवाडउ णामे पट्टणु । अरि-णरणाह-सेणदल वट्टणु ।
जो भुजइ अरिण खय कालहो । रणधोरिय हो सुग्रहो बल्लाल हो ।
जासु भिच्च, दुज्जण मण-सल्लणु । खत्तिउ गुहिल उत्तु जहि भुल्लणु ॥

इस प्रशस्ति का पूरा मूल अंश आमेर शास्त्र भडार के प्रशस्ति-सग्रह में विद्यमान है । यह अनेकान्त के वर्ष १४ अक-३-४ के पृष्ठ ११८/११६ पर भी प्रकाशित हुआ है । किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उपरोक्त भाग ही अधिक उल्लेखनीय है ।

—१७२१, खजानेवालों का रास्ता
जयपुर

—●—

कमलकान्ति श्रीवास्तव

आधुनिक हिन्दी कविता में व्यंग

आज इस बात पर सभी एक मत हैं कि हिन्दी का व्यंग शब्द अंग्रेजी सेटायर शब्द का पर्यायवाची है। यह एक व्यापक शब्द है जो अपने कलेवर में—श्लेष, परिहास, वक्रोक्ति, वाग्विदग्धता, व्यंजना तथा संदर्भ-विपर्यय आदि कौशलों को समाहित किये हुए है। इस व्यापकता के कारण ही अभी तक इसका अपना स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका है। भारतीय साहित्य शास्त्र में व्यंजना और वक्रोक्ति का तो व्यापक विवेचन मिलता है किन्तु हम लोग आजकल जिसे व्यंग कहते हैं, उस पर अलग से विचार नहीं किया गया है, यद्यपि हास्यरस के विवेचन में इसकी भी कुछ चर्चा आ जाती है। इसी कारण हिन्दी में व्यंग को परिहास से अलग करके देखने की प्रवृत्ति विकसित नहीं हो सकी। वास्तव में परिहास और व्यंग के स्वरूप में आंशिक साम्य तो है, किन्तु दोनों का क्षेत्र और सीमायें अलग हैं।

आक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी के अनुसार व्यंग एक ऐसी रचना है जिसमें प्रचलित मूर्खताओं और बुराइयों पर, उनका मजाक उड़ाते हुवे या गंभीरता से उनका विरोध करते हुये, आक्रमण किया जाता है।[1]

इस प्रकार व्यंग घृणा अथवा विरोध प्रदर्शित करने का एक अस्त्र है। व्यंग का दूसरा रूप विषाक्त वचनों की वर्षा या मार्मिक चुटकियां भी हैं। इसमें हृदय की सहानुभूति का लेशमात्र स्पर्श न होने के कारण हास्य का उद्भव होना असम्भव है। यहाँ हंसी का स्थान क्रूरता ग्रहण कर लेती है। वास्तव में व्यंग सोद्देश्य होता है। इसके द्वारा कवि या लेखक सदैव विनोद या परिहास के द्वारा दण्ड देना चाहा करता है। अतः स्वभावतः उसमें कुछ चिड़चिड़ापन आ जाता है। मेरीडियो के अनुसार—'यदि आप

---

१ द्रष्टव्य, सेटायर शब्द, डिक्शनरी का नवां आयतन ।

हास्यास्पद का इतना मजाक उड़ाते हैं कि उसमें भाव की विषण्णता समाप्त हो जाय तो आपका हास्य व्यंग्य की कोटि में आ जायेगा।[1]

व्यंग्यकार की परिभाषा देते हुये मेरीडिथ ने अन्यत्र लिखा है-व्यंग्यकार नैतिकता का ठेकेदार होता है। प्राय यह सामाजिक कूड़े-करकट को बटोरनेवाला जमादार (झाड़ूवाला) होता है।[2]

निकोल ने कुछ नये ढंग से व्यंग्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये इस प्रकार कहा है—"व्यंग्य इतना तिक्त भी हो सकता है कि उसमें से हास्य की क्षमता जाती रहे और भारीपन आ जाये। व्यंग्य में लेखक की नैतिक चेतना शून्य हो जाती है। उसमें सहानुभूति, दया और उदारता के भाव समाप्त हो जाते हैं। वह मनुष्य के वाह्य स्वरूप या आकृति पर बेरहम होकर चोट करता है। वह मनुष्य के चरित्र पर आक्रमण करता है। युग के रहन-सहन पर कठोरता से आघात करता है। क्षमा करना जानता ही नहीं।"[3]

डा० बरसाने लाल ने ठीक ही कहा है— व्यंग्य की भाषा में गुदगुदी कम, तिक्तता अधिक रहती है।[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्यंग्य परिहास से अलग अपना अस्तित्व रखता है। इसलिये यहाँ पर हास्य तथा व्यंग्य के आपसी भेद का स्पष्टीकरण उपयुक्त प्रतीत होता है।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'रिमझिम' एकांकी-संग्रह की भूमिका में पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध हास्य के पांच मुख्य रूप माने हैं—

(१) सैटायर (विकृति) आक्रमण करने की दृष्टि से वस्तुस्थिति को विकृत कर उसमें हास्य उत्पन्न करना।

(२) करीकेचर (विरूप या प्रतिरंजना)—किसी भी ज्ञात वस्तु परिस्थिति को अनुपात रहित बढ़ाकर या गिराकर हास्य उत्पन्न करना।

---

१ मेरीडिथ आइडिया आफ कॉमेडी, पृष्ठ ७६।

२ वही।

३ ए० निकाल एन इन्ट्रोडक्शन आफ ड्रामेटिक थ्योरी।

४ डा० बरसाने लाल चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य में हास्य रस, पृ० ४१।

(३) पैरोडी (परिहास) – उदात्त मनोभाव को अनुदात्त संदर्भ में जोड़कर हास्य उत्पन्न करना।

(४) आइरनी (व्यंग्य)–किसी वाक्य को कहकर उसका दूसरा ही अर्थ निकालना।

(५) विट् (वचन-वैदग्ध्य)—शब्दों तथा विचारों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग।

"वर्माजी द्वारा हास्य के इन रूपों को दिये गये हिन्दी नाम कुछ अधिक उपयुक्त नहीं लगते। सैटायर को विकृति कहना ठीक नहीं। उसका पर्याय हिन्दी का व्यंग शब्द ही हो सकता है। विकृति कैरीकचर के लिये अधिक उपयुक्त शब्द है। इसी तरह पैरोडी को परिहास नहीं कहा जा सकता। परिहास तो किसी भी तरह के मजाक के लिये प्रचलित शब्द है, इसलिये इसे ह्यूमर का ही पर्याय रहने देना चाहिये। और आइरनी विपरीतार्थ व्यंजना है। व्यंग्य शब्द हिन्दी मे व्यंग्यार्थ, व्यंजना से प्राप्त अर्थ, के लिये रूढ है। इसलिये इसका आइरनी के लिये प्रयोग भी उचित नहीं।"[१]

हास्य के उपर्युक्त प्रकारों मे कुछ तो वास्तव में हास्य के रूप हैं पर कुछ ऐसे हैं जो व्यंग से सम्बन्धित है। सैटायर तो व्यग का पर्यायवाची है ही, साथ ही आइरनी और विट् भी व्यंग से ही अधिक सबंधित हैं। मेरीडिथ के अनुसार–जब किसी व्यक्ति पर सीधे व्यग बाण न छोड़कर उसे दुलार के आवरण में ऐसी चिकोटी काटे कि वह इस दुविधा में रहे कि उसे चोट पहुंचायी गई है या नहीं, तब आप आइरनी का उपयोग कर रहे होते हैं।[२] स्पष्ट है कि आइरनी और विट् मूलतः व्यग के ही साधन हैं। वैसे इनका शुद्ध हास्यात्मक प्रयोग भी किया जा सकता है। पैरोडी एक ऐसा उपकरण है जो शुद्ध हास्यात्मक भी हो सकता है और व्यंगात्मक भी।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानों ने भी व्यग को हास्य से अलग नहीं माना है। किन्तु इन दोनो में निश्चित अन्तर है— न केवल गुण में वरन् प्रवृत्ति मे भी। हास्य मे जहा किसी की हंसी एक विशेष प्रकार की सहानुभूति, स्निग्धता के साथ उड़ाई जाती है वहां व्यग में इन दोनो का लोप होने लगता है। हास्य प्रयोजन–हीन होता है जब कि व्यंग प्रयोजन–युक्त। वास्तव मे हास्य और व्यंग को दो अलग भूमियों में

---

१ रणजीत : हिन्दी की प्रगतिशील कविता।
२ मेरीडिथ:— दी आइडिया आफ कॉमेडी, पृष्ठ ७६ और ८२।

देखना चाहिये। हास्य का लक्ष्य साधारण मनोरंजन या दिल बहलाव है जब कि व्यंग मसत हास्यात्मक प्रहार है जो तीखी चोट उत्पन्न करता है। यद्यपि कई उक्तियों अथवा रचनाओं में हास्य और व्यंग का प्रयोग साथ-साथ देखने को मिलता है तथा अधिकतर व्यंग का प्राथमिक प्रभाव परिहासात्मक ही होता है, तथापि इसे हास्य का एक भेद कहना उपयुक्त नहीं।[१]

हास्य और व्यंग को समझ लेने के पश्चात् व्यंग और व्यंजना के आपसी अन्तर को समझ लेना आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि दोनों के स्वरूप में बहुत अन्तर है। व्यंजना भारतीय साहित्य-शास्त्र की मान्य तीन शब्द शक्तियों-अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में से एक है। अपने अपने अर्थ का बोध कराकर जब अभिधा और लक्षणा विरत हो जाती है, तब जिस शब्द शक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है उसे व्यंजना कहते हैं।[२] व्यंजना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है—भारतीय साहित्य चिन्तन के ध्वनि सम्प्रदाय ने इसे काव्य की आत्मा तक घोषित किया है—किन्तु व्यंजना की कुछ उक्तियां व्यंग भी कही जा सकती हैं जो किसी व्यक्ति, स्थिति या सिद्धान्त की मूर्खता, तुच्छता तथा बुराइयों आदि की व्यंजना करके उसपर प्रहार करती हैं। ऐसे ही स्थानों पर हम व्यंजना को व्यंग भी कह सकते हैं।

वक्रोक्ति और व्यंग के स्वरूप में भी बहुत अन्तर है। भारतीय-समीक्षा-शास्त्र में वक्रोक्ति का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—एक तो अलंकार के अर्थ में, दूसरा आचार्य कुन्तक के अर्थ में जिसने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा घोषित किया है। वक्रोक्ति अलंकार की परिभाषा करते हुये आचार्य कुलपति ने कहा है—'कहै बात और कछु, अर्थ करै कछु, वक्रउक्ति ताको कहै, श्लेष काकु द्वै ठौर।" अर्थात् श्लेष या काकु [ध्वनि-परिवर्तन] के बल से—किसी अन्य अभिप्राय से कहे हुये किसी वाक्य का दूसरे वाक्य द्वारा कोई भिन्न अर्थ निकालना। उक्ति-चमत्कार तथा वाक्य-चातुर्य इसका प्रमुख गुण है। किन्तु कुन्तक के अर्थ में वक्रोक्ति सम्पूर्ण कवि-व्यापार अथवा कवि-कौशल का पर्याय बन जाती है। व्यंग में, किसी भी उक्ति में दूसरा अर्थ काकु या श्लेष द्वारा नहीं ढूंढा जाता बल्कि वक्ता सोच समझकर ऐसा शब्द विधान

१ आचार्य विश्वनाथ साहित्य दर्पण, परिच्छेद २। श्लोक १२।

२ रणजीत प्रगतिशील कविता में व्यंग, हिन्दी की प्रगतिशील कविता।

करता है—जिससे अभिप्रेत अर्थ निकल सके। हाँ, किसी भी [illegible] कथन को अर्थ में यदि वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग करें तो अवश्य व्यंग भी एक प्रकार की वक्रोक्ति ही है।[1] फिर भी व्यंग वक्रोक्ति से भिन्न है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि व्यंग का एक अलग निश्चित स्वरूप है तथा परिहास, व्यंजना एवं वक्रोक्ति से आंशिक साम्य होते हुये भी इसका क्षेत्र अलग है तथा इसकी कुछ अपनी निश्चित सीमायें हैं। अतएव हिन्दी में व्यंग को परिहास, व्यंजना तथा वक्रोक्ति से अलग कर देखने की प्रवृत्ति विकसित होनी चाहिये। आशा है इस प्रवृत्ति का प्रसार हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये लाभदायक सिद्ध होगा।

व्यंग के स्वरूप और उसकी सीमाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालने के पश्चात् हम हिन्दी में व्यग काव्य की परम्परा की ओर संकेत करते हुए आधुनिक हिन्दी कविता की व्यंग परम्परा पर विचार करेंगे।

हिन्दी मे व्यंग काव्य की पुष्ट परम्परा आधुनिक युग मे ही दिखाई पड़ती है, यद्यपि हिन्दी साहित्य के पूर्व कालो मे भी यत्र-तत्र व्यग के उदाहरण मिल जाते हैं। आदि काल की वीरगाथाओं में व्यंग वीररस के संदर्भ में दिखाई देता है। भक्ति-काल मे कबीर, सूर और तुलसी में भी व्यग के कई उदाहरण मिल जाते हैं। 'भ्रमर गीत' का उपालंभ व्यग काव्य का मार्मिक रूप है। रीतिकाल में यत्र-तत्र हास्य-विनोद की परम्परा मिलती है। रीतिकाल तो शृंगाररस प्रधान था ही किन्तु परम्परा निर्वाह करने के हेतु हास्य रस के छंद भी कवियों ने लिखे, जिनमे यत्र-तत्र व्यंग के पुट भी हैं। इस युग के व्यग कवियो में बिहारी, अलीमुहीन खां "प्रीतम", सूरन, फेरन तथा बेनी मुख्य हैं। इस युग में हास्य के आलम्बन कृपण नरेश तथा देवता रहे। "प्रीतम" ने तो खटमल को अपनी कविता का आलंबन बनाया है। बेनी कवि के भडौवे (सैटायर) हिन्दी में अपने ढग की एक ही वस्तु हैं। इसमें उपहास पूर्ण निन्दा है। पिता के श्राद्ध में दुर्गन्धियुक्त पेड़े भेजने पर बेनी कवि उस कृपण पर व्यंग बाण से प्रहार करते हैं—

"चींटी न चाटत मूसे न सूँघत,
माँछी न बास से आवत नेरे।

---

१ रणजीत, हिन्दी की प्रगतिशील कविता।

आनि धरे जबते घर में,
तब ते रहे हैजा परोसिन घेरे।
माटिहु में कछ स्वाद मिलें इन्हें,
लाय सो ढूढ़त हुरं बहेरे।
चौंक उठ्यो पितु लोक में बाप ये,
आपके देखि सराध के पेरे।'

व्यंग का उदम जो इन तीन कालों में धीरे धीरे प्रस्तवित हो रहा था वह आधुनिक काल में बढ़ता हुआ दिखाई देता है। शुद्ध व्यंग लेखन की परम्परा का विकास आधुनिक हिन्दी कविता में भारतेन्दु-युग से प्रारम्भ होता है, क्योंकि अभी तक जो व्यंग काव्य होते थे उनमें व्यंग तत्त्वों का शोचनीय अभाव रहता था। विद्वानों ने इस अभाव के दो कारण बताये हैं—

(१) प्रजातन्त्रीय विचारों का अभाव

(२) नारी के प्रति पश्चिमी दृष्टि का अभाव जिसमें हास्य और व्यंग की उन्नतिशील रूपरेखा के दर्शन होते हैं।²

'उन्नीसवीं शताब्दी में रीतिकाल का अन्त और आधुनिक काल का प्रारंभ होता है। भारतेन्दु बाबू दोनों प्रवाहों के संगम स्थल पर खड़े हुवे हैं। उनके समय से ही जहां कविता की अन्य प्रवृत्तियों मे परिवर्तन हुआ वहां हास्य के क्षेत्र मे भी नवीनता आई। हास्य के आलंबन अब सूम और अरसिक ही नहीं रह गये सरकार के खुशामदी, धर्मी-देशभक्त, पुरानी लकीर के फकीर, फैशन के गुलाम आदि मे भी कवि को हसने की सामग्री मिलने लगी।³

---

१ माधुरी (पत्रिका) जुलाई १६४३, पृष्ठ—६२७।

२ रमेशचन्द्र मेहरा निराला का परवर्ती काव्य, अध्याय ४।

३ डा० नगेन्द्र हिन्दी साहित्य में हास्यरस, वीणा, नवम्बर १६३७।

विद्वानों ने भारतेन्दु युग को इस प्रकार के हास्यात्मक और व्यंगात्मक साहित्य का स्वर्ण युग कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस युग के साहित्य में 'जिन्दादिली और मनोविनोद की मात्रा का आधिक्य' पाया है।[१]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविताओं में राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों पर व्यंग मिलते हैं। शिक्षा और बेकारी पर भारतेन्दुजी का यह चुटीला व्यंग देखिये–

तीन बुलाये तेरह आवैं, निज निज विपदा रोइ सुनावैं।
आंखों फूटे भरा न पेट, क्यों सखि सज्जन, नहिं ग्रेजुयेट॥

—भारतेन्दु ग्रंथावली (भाग २)

अंग्रेजी–सभ्यता पर उनकी निम्नलिखित मुकरी दर्शनीय है—

भीतर तत्व न झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंगरेजी।

—भारतेन्दु ग्रंथावली (भाग २)

प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में भी व्यंग की प्रचुरता दिखाई देती है। इनके हृदय में स्वदेश के प्रति अत्यधिक प्रेम था। इसीलिये विदेशी भाषा और संस्कृति को अपनानेवाले भारतीयों के लिये यह उक्ति कितनी मार्मिक बन पड़ी है:–

छोड़ी नगरी सुगुन आगरी उर्दू के रंग राते।
देसी वस्तु विहाय विदेसनि सों सर्वस्व ठगाते॥
मूरख हिन्दू कस न लहैं दुःख जिनकर यह ढंग दीठा।
घर की खाड़ खुरखुरी लागै चोरी का गुड़ मीठा॥

हास्य, करुणा और व्यंग का अद्भुत सम्मिश्रण इनकी 'तृप्यताम्' कविता में मिलता है। इस कविता में अनेक देवी देवताओं का स्मरण किया गया है परन्तु तर्पण करते समय कवि को बार बार देश की दुर्दशा का स्मरण हो आता है। धार्मिक रूढ़ियों के प्रति जनता में जो अन्धविश्वास घर किये हुये था, जिसके कारण मंहगाई और टैक्स से पीड़ित होने पर भी लोग सर्पों को दूध पिलाते थे तथा जो कवि सुन्दरी की नागिन जैसी जुल्फों का स्मरण किया करते थे—उनपर मिश्रजी का यह व्यंग कितना चोट करनेवाला है—

---

१ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३९३।

महंगी और टिकस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन छाम ।
साग पात लौं मिलै न जिय भरि लेवो वृथा दूध को नाम ।।
तुमहिं कहा प्यावें जब हमरो कटत रहत गोवश तमाम,
केवल सुधुखि प्रलफ उपमा लहि नाग देवता तृप्य ताम ।।

भारतेन्दु-युग की हास्य और व्यंग की विकासशील परम्परा द्विवेदी युग में आकर निरन्तर क्षीण होने लगी। द्विवेदीजी की नीतिवादी आदर्श परम्परा ने जीवन के परिष्कृत सौष्ठव का महत्व ऊँचा किया। फलस्वरूप कवियों और लेखकों की दृष्टि गंभीर हो गयी। डॉ० बरसानेलाल ने ठीक ही कहा है—व्यंग का प्रयोग अब उतना अधिक न रह गया जितना भारतेन्दु युग में था।[1] इस युग के हास्य-व्यंगकारों में नाथूराम-शंकर, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिनका लक्ष्य पाश्चात्य संस्कृति के प्रति हीन दृष्टि तथा उनके अनुकरण करनेवालों की खिल्ली उड़ाना था।

छायावाद-युग में व्यंग-काव्य के क्षेत्र में क्रान्तिकारी कवि निराला हिन्दी के लिये वरदानवत् सिद्ध हुये। उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा और शब्दशिल्प का उपयोग पूरी निपुणता से किया। निरालाजी का संवेदनशील व्यक्तित्व उन्हें हमेशा गति देता रहा। युग, देश की परिस्थितियों का भावात्मक प्रभाव सबसे अधिक निराला को ही पीड़ित करता रहा। यही कारण है कि १९३६ के आसपास से निरालाजी एकदम प्रजातांत्रिक भूमिका पर आकर सामाजिक भूमि पर यथार्थ की छानबीन करने लगे। बंगाल के अकाल तथा उनकी व्यक्तिगत आर्थिक विषमताओं ने जो स्थायी प्रभाव छोड़ा उससे उनकी दृष्टि व्यंगात्मक-सी हो गई। उनकी सामाजिक चेतना जिन रचनाओं में मुखरित है, उनमें प्रायः सबल व्यंग का स्वर ही प्रधान है। सन् १९४२ में प्रकाशित 'कुकुरमुत्ता' व्यंग को सर्वोत्तम प्रसंग के रूप में स्वीकार किया है—

'अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई खुशबू रंगोआब,
खून चूसा खाद का तू ने अशिष्ट,
डाल पर इठला रहा है कपीटलिस्ट,

1 डॉ० बरसानेलाल चतुर्वेदी हिन्दी साहित्य में हास्य रस, पृ० २०१ ।

कितनों को तूने बनाया है गुलाम,
माली कर रखा, सहाया जाड़ा घाम।

इस भूमिका पर निरालाजी ने कुकुरमुत्ता को गुलाब का प्रतिद्वंद्वी बनाकर राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था तथा अंग्रेजी फैशन पर तीखा व्यंग किया है—

शाहों राजों अमीरों का रहा प्यारा
इसलिये साधारणों से रहा न्यारा
काँटों से ही भरा है, यह सोच तू।

धनंजय वर्मा ने ठीक ही कहा है—कुकुरमुत्ता सर्वहारा नहीं ढोंग की [illegible] है। मेरी दृष्टि से कुकुरमुत्ता का व्यंग [illegible] तथा तीव्र है। जो भी यहाँ कुकुरमुत्ता के प्रति मोह दिखाकर अपना प्रतीक मानेगा वही व्यंग का शिकार होगा। इस रचना के पीछे कोई असाधारण प्रतिभा और शक्ति कार्य कर रही है।[1] इस प्रकार व्यंग काव्य की परम्परा में कुकुरमुत्ता का महत्व बहुत अधिक है जो व्यंगात्मक भाषा में यथार्थवादी जीवन की अनेकमुखी कमजोरियों को चित्रित करता है। इसके पश्चात् बेला और नये पत्ते में अर्थ सत्ता पर व्यंग करनेवाली कई व्यंग कविताएँ मिलती हैं। रानी और कानी, गर्म पकौड़ी, खुश खबरी, प्रेम-संगीत आदि कविताओं में सूक्ष्म किन्तु तिलमिला देनेवाला व्यंग मिलता है। थोड़ी [illegible] व्यंग का आवश्यक गुण है। गिरिजाकुमार माथुर के अनुसार निराला की कविताओं में यथार्थ का नग्न रूप मिलता है।[2] किन्तु मेरी सम्मति से यह अपने-अपने दृष्टिकोण की बात है। वैसे निरालाजी में चोट करने की प्रवृत्ति सर्वत्र समभाव से परिलक्षित होती है, यद्यपि कहीं-कहीं औचित्य का उल्लंघन भी हुआ है।

निराला को छोड़कर अन्य छायावादी कवि प्रसाद, पंत और महादेवी की कविताओं में व्यंग का लगभग अभाव है। प्रसाद के नाटकों में तो कहीं-कहीं व्यंग की झलक मिल जाती है, किन्तु कविताओं में व्यंग कहीं नहीं दिखाई पड़ता। अपनी स्वाभाविक

---

१ धनंजय वर्मा : निराला काव्य और व्यक्तित्व पृ० १७८।

२ गिरिजाकुमार माथुर, आलोचना (पत्रिका), १२ वां अंक, लेख--नयी कविता का भविष्य।

गंभीरता के कारण महादेवीजी का व्यंग की ओर कोई झुकाव नहीं रहा। पंत की ग्राम्या में अवश्य व्यंग के कुछ छुटपुट प्रयोग दिखाई देते हैं जैसे ग्रामदेवता की भर्त्सना, ग्रामवधू के कृत्रिम रुदन के उपहास आदि के प्रसंग में। किन्तु निराला की प्रखरता और शक्तिमत्ता का यहाँ सर्वथा अभाव है।

महाकवि निराला के बाद प्रमुख व्यंग कवियों में, नागार्जुन, शैलेन्द्र, अज्ञेय, दिनकर, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आज का दुरंगी मानव-जीवन अनेक सामाजिक धार्मिक और राजनीतिक असंगतियों और विडम्बनाओं से भरा पड़ा है। प्रगतिशील कवियों ने अपनी कविता में ऐसी अनेक असंगतियों तथा भ्रष्टाचारों के ऊपर व्यंग करके अपने दिल का गुबार निकाला है। जैसा कि प्रस्तावना में संकेत किया गया है, व्यंग शब्द—आजकल का लोक प्रचलित शब्द है। आज का सामान्य व्यक्ति बिना व्यंग के बात ही नहीं करता तो फिर कवियों की भावना का तो पूछना ही क्या? हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रगतिशील कवियों ने व्यंग काव्य की परम्परा को गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से जितना सबल बनाया उतना और किसी भी धारा के कवियों ने नहीं। यहाँ सभी प्रगतिशील तथा प्रयोगवादी कवियों की व्यंग रचनाओं पर प्रकाश डालना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु कुछ संकेत आप के सम्मुख प्रस्तुत किये जाते हैं।

सबसे पहले हम नागार्जुन की "कौन है य' कामराज" कविता को लेते हैं, जिसमें कवि ने आज की राजनीतिक परिस्थिति को व्यंग का विषय बनाया है—

खड़ाऊँ है गद्दी पर, करने लगा नाम राज।
हवा लगी पूछने, कौन है य' कामराज?
आ गया हिन्द में सचमुच भला राम राज?
नेहरू ने जो कहा, वो करेगा काम राज?
सोना लगा रोने
लोहा लगा हँसने,
रबड़ लगा घूमने
यू० पी० में वाम राज, आगे धवाम राज।

\+ + +

देखते हैं कृपलानी
श्रीमती के कामकाज

झां झां, धिन धिन धादिट
बनिया टटोलता है पाकेट,
भेड़ियों पर छा गये
खूब चढ़े दाम राज,
हवा लगी पूछने, कौन है यं कामराज ?

नागार्जुन ने कई व्यंग कवितायें लिखी हैं जिनमें प्रेत का बयान, तालाब की मछलियां, दंके की मुस्कान, वे और तुम आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी व्यंग रचनाओं में कबीर की कटुता, भारतेन्दु की करुणा तथा निराला की विनोदवक्रता का विलक्षण सामंजस्य है। नागार्जुन के अन्दर व्यंग की जन्मजात प्रतिभा दिखाई पड़ती है। इसी कारण जितना व्यंग नागार्जुन ने लिखा है उतना निराला जी भी नहीं लिख पाये। नागार्जुन की व्यंगात्मक शैलियों में उनकी नाटकीय शैली विशेष प्रशंसनीय है। नागार्जुन ने भारतेन्दु की तरह मुकरियां भी लिखी हैं।

व्यंग रचना की समृद्धि में जानकीवल्लभ शास्त्री का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। नागार्जुन के घनगढ़पन से इनकी कविता एकदम मुक्त है। इन्होंने अनेक व्यंग कवितायें लिखी हैं जो शिप्रा, मेघगीत, अवन्तिका आदि में संकलित हैं तथा कुछ सामयिक पत्रों में भी बिखरी हुई हैं। निम्नलिखित कविता में व्यंग की एक झलक देखिये—

सोने का बाजार मन्द है—लोहे का है तेज
पाठ यही इतना है बच्चा उलट रहा क्या पेज
अगर काटनी है चांदी तो ले सोने से लोहा
फिर क्या तुलसी की चौपाई क्या रहीम का दोहा।

आजादी से संबंधित शैलेन्द्र की एक व्यंग कविता देखिये—

हम राम राज्य में सब खुश हैं,
हम नये समय के लव-कुश हैं।
रावण न मरा लंका न जली,
खुद घर लौट आयी जनक लली।
ना सेतु बंधा ना पूंछ जली,
मंत्री है श्री बजरंगबली।

समझौते से, बिना क्रांति के प्राप्त हुई आजादी पर इतने उपयुक्त पौराणिक संदर्भों के साथ इतना सुंदर व्यंग शायद ही कहीं मिले और अन्त में बजरंगबली में गजब की लाक्षणिकता है।[1]

आज के वैज्ञानिक युग में पैसे की बढ़ती हुई तथा मनुष्य की घटती हुई कीमत को देखकर हरिवंशराय बच्चन ने रुपैया पर कितना करारा व्यंग लिखा है—

आज महगा है सैया रुपैया।
रोटी न महगी है,
लहगा न महगा है—
महगा है सैया रुपैया।
आज महगा है सैया रुपैया।
बेटी न प्यारी है,
बेटा न प्यारा है
प्यारा है सैया रुपैया
मगर महगा है सैया रुपैया।
नाता न साथी है—
रिश्ता न साथी है
साथी है सैया, रुपैया।
मगर महगा है सैया रुपैया। —[रुपैया, बच्चन]

रॉबिन शॉ पुष्प की एक व्यंग कविता देखिये—
पहले—
बिना चीनी की चाय भी
लगती थी मीठी,
परन्तु अब चीनी पड़ने पर भी—
कड़वी

---

१ रणजीत हिन्दी की प्रगतिशील कविता, पृ ३२६।

क्योंकि—
तुम पहले की प्रेमिका
अब छ बच्चों की मां।

आज के युग में लुप्त हुई 'मानवता' पर एक व्यंग देखिये—
सज्जनो !
एक दुबली पतली, गोरी चिट्टी लड़की—
जिसकी उम्र कुछ हजार साल ही है
जो सच्चाई की बेदाग उजली साड़ी और
विश्वासोन्मुख मूल्यों की चित्रित कंचुली पहने हुई है,
नवयुग के मेले में—
विश्व के बाजार से गायब हो गई है।
कहते हैं सभ्यता की सड़क पर
अनैतिकता की मोटर में सवार
कुछ घोर भौतिक वादी अपराधी उसे उठा ले गये—
बुद्धिवादिनी पुलिस देखती रह गई।
अब सबसे प्रार्थना है—
जो उसे पाये, घर पहुंचा दे—
राह-खर्च के अतिरिक्त इनाम भी दिया जायेगा।
लड़की का नाम है– 'मानवता'। —[लापता, रामचन्द्र]

कांग्रेस द्वारा स्थापित समाजवादी ढांचे पर एक व्यंग देखिये—
भारत के नूतन समाजवादी ढांचे की जय है।
इस ढांचे के सिद्ध सृजनकर्ता का यश अक्षय हो—
इस समाजवादी ढांचे की जग मे धूम मची है
अलादीन के इस चिराग पर सबकी आंख लगी है।
बहुत अनोखा है समाजवादी समाज भारत का—
ऐसा आदर कहाँ जगत मे होता है जनमत का ?

ऐयर हैदर झगड रहे हैं, मेनन रोब दिखाते
डालमियां और बिड़ला आपस में टकराते

× × ×

एक दूसरे को अखबारी- रिजवी देते गाली-
मना रहे हैं चौबे मातम और दुबे दीवाली। —कन्हैया

भारतीयों के पिछड़ेपन तथा उनके मूढ़ अंधविश्वासों पर एक तीखा व्यंग देखिये-

युग बदल जाये चाहे लाखों, भारत में अब भी सतयुग है—
एटम उद्जन की व्यर्थ बात अपने तो गोबर का युग है—
गोबर का धरम सनातन है गोमाता हमको प्यारी है—
चाहे इन्सान मरें लाखों हम गोबर पर बलिहारी हैं—
गोमूत पियो, गोबर खाओ बस सभी पाप धुल जायेंगे
तुम और बीवी बच्चे ही क्या पुरखे तक भी तर जायेंगे। -[गोबर का युग, चन्द्रदेव]

भारत में परम्परा से चली आती हुई सतीत्व की धारणा पर एक व्यंग देखिये, जो भारतीय लड़कियों की विवशता के ऊपर तरस उत्पन्न करने वाला है। एक हिन्दुस्तानी लड़की अपने मन से कहती है —

सुन रे मेरे मन
इतना मत तन
पहले इधर देख
फिर करना मीन-मेख
सुन, यह है तेरा पति-
इसके सिवा नहीं तेरी गति
इसको कर प्यार
अपने को मार
हिम्मत न हार
फिर कोशिश कर एक बार।

× × ×

सोच ले मन अब तू इसकी परिणीता है
यह राम है तेरा, तो तू इसकी सीता है-

पर वह राम हो या न हो, तुझे सीता रहना है
इसका ही होकर रहना है, मगर जीता रहना है
भले घर की लड़कियों का यही है ढंग
जैसे काली कामरी चढ़ै न दूजो रंग। —[[illegible], ये सपने : ये प्रेत]

आजकल के कवियों ने केवल राजनैतिक सामाजिक और मानसिक क्षेत्रों को ही व्यंग का विषय नहीं बनाया बल्कि साहित्यक्षेत्र में फैली हुई धांधली बाजी को भी उन्होंने अपने व्यंग का निशाना बनाया। आजकल के कवि-सम्मेलनों पर एक सुन्दर व्यंग देखिये—

ऑल इंडिया हो रहा कवि सम्मेलन आज,
शिवजी की बारात के मंच सज रहे साज।
मंच पर जम रहे कविवर ऐसे-
सर्कस के जोकर हों जैसे।
लम्बे केश नर दीखत नारी
जनता देखि बजावत तारी।
जोशीले कवि मंच पै आये
हाथ फेंकते दायें—बायें।
कवि ने जनता को ललकारा
छूटा तभी हास्य फव्वारा।
संयोजक ने कवि को रोका
मंच निकट एक कुत्ता भौंका।
+ + +
शोर गुल मचने लगा
लाइट हो गयी 'फ्यूज'
रोदन कवि करने लगे
खोइ गये निज सूझ। [कविसम्मेलन, डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी]

इस प्रकार हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग ने हिन्दी कविता की व्यंग-परम्परा को समृद्ध बनाया है तथा उसे एक ऊँचे और व्यापक स्तर पर पहुंचाया है। आशा है, व्यंग भविष्य में हिन्दी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित होगा।

वनस्थली विद्यापीठ
वनस्थली

●डॉ० निर्मलचन्द्र राय

महाराजा जसवन्तसिंह कृत भाषाभूषण

जसवन्तसिंह (१६२६-१६७८ ई०) का जीवनकाल हिन्दी साहित्य के 'रीतिकाल' में था। जोधपुर दरबार एवं राजघराने में चली आ रही साहित्यिक परंपरा के वातावरण में जन्म तथा पालन-पोषण होने के कारण स्वभावतः जसवन्तसिंह का साहित्य के प्रति अनुराग हो गया और इसका प्रतिफल भाषा-भूषण जैसे अलंकार ग्रन्थ के रूप में सामने आया। केवल इस एक ग्रन्थ ने ही उन की विद्वत्ता को प्रकाशित कर उन्हें रीति-युगीन आचार्यों के समक्ष ला बिठाया।

१- हिन्दी साहित्य का 'रीतिकाल' और उसकी मुख्य विशेषतायें

हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाल' का प्रारंभ लगभग १६५० ई० से माना जाता है। इस समय तक हिन्दी काव्य साहित्य के प्रौढ़ होने के साथ साथ कवियों ने अलंकार एवं रस-निरूपण का सूत्रपात कर दिया था।[1] कवि अब अलंकार और रसों के वर्णन को महत्त्व देने लगे थे। केशवदास (१५५५ - १६१७ ई०)[2] ने सर्व प्रथम कविप्रिया में रीति काव्य का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण किया था। परन्तु कविप्रिया से भिन्न आदर्शों को लेकर प्रायः इसके पचास वर्ष बाद चिन्तामणि त्रिपाठी से रीति ग्रन्थों की परम्परा का प्रारंभ हुआ।[3] कवियों ने अब लक्षणग्रन्थ-रचना की परिपाटी सी बना ली।

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास- रामचन्द्र शुक्ल-(काशी १९९७ वि०) पृ० २८०।

२ वही, पृ० २१०। हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६-नगेन्द्र (काशी २०१५ वि०), पृ० ३०२।

३ हिन्दी साहित्य का इतिहास-पृ० २८१-८३।

हिन्दी के अलंकार संबंधी काव्य-ग्रन्थ अधिकांशतः जयदेव कृत चन्द्रालोक और अप्पयदीक्षित कृत कुवलयानन्द के आधार पर निर्मित हुए। कुछ ग्रन्थों में 'साहित्य-दर्पण' तथा 'काव्यप्रकाश' का आधार भी लिया गया। परन्तु हिन्दी काव्य-क्षेत्र में कवि और आचार्य लगभग एक हो गये, जो संस्कृत काव्य-शास्त्र की परिपाटी के विपरीत था। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा न पड़ा, क्योंकि कवि का मुख्य उद्देश्य शास्त्रीय विवेचन न होकर कविता करना ही रह गया।[1] फलतः शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से तो इस युग की काव्यधारा सामान्य रही, परन्तु काव्योचित और सरस उदाहरणों की बहुलता से यह असाधारण हो गई।[2] "हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास में यही युग ऐसा था, जब कला को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया जाता था। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन था, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक अथवा राजनीतिक सुधार की परिचारिका ही। काव्य कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व—उसकी साधना उसीके अपने निमित्त की जाती थी— वह अपना साध्य आप थी।"[3]

दोहा, सवैया और कवित्त ही इस युग के कवियों के मुख्य और प्रिय छंद रहे। दोहे में अलंकार का लक्षण लिखकर कवित्त अथवा सवैया में उसका उदाहरण दे दिया जाता था।[4]

इस युग में निर्मित ग्रन्थों को— लक्षणलक्ष्यबद्ध एवं लक्ष्यबद्ध इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। लक्षण-लक्ष्य-बद्ध ग्रन्थों में शास्त्रीय चर्चा के साथ-साथ उदाहरण स्वरूप मुक्तक पद्यों की रचना की गई। इनमें लक्षण तथा लक्ष्य दोनों को ही समुचित स्थान मिला। लक्ष्यबद्ध ग्रन्थ में शास्त्रीय विवेचन के स्थान पर कवित्व-मय पद्यों की ही रचना की गई, किन्तु इनके निर्माण के समय काव्यकारों ने रीति-शास्त्रीय सिद्धान्तों को अवश्य ही ध्यान में रखा होगा।[5]

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास– पृ० २८१–८३।

२ हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास–आचार्य चतुरसेन शास्त्री, (दिल्ली १९४६ ई०), पृ० ३२८।

३ रीतिकाव्य की भूमिका'–डा० नगेन्द्र, दिल्ली १९४९ ई०), पृ० १४७।

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास– पृ० २९१।

५ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास– पृ० २८०–८१।

अतः यह कहा जा सकता है कि रीतियुगीन हिन्दी काव्यशास्त्र में लक्षण ग्रन्थ की परिपाटी पर रचना करनेवाले जो कवि हुए, वे केवल कवि ही रहे, क्योंकि उन्होंने कविता ही के उद्देश्य से ग्रन्थ रचना की, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से नहीं ।[1]

परन्तु जसवन्तसिंह 'रीतिकाल' में प्रचलित इस सामान्य नियम के अपवाद सिद्ध हुये। काव्य-जगत् में अपने ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' के द्वारा वे एक आचार्य के रूप में आये, कवि के रूप में नहीं ।[2] इन आचार्यों का उद्देश्य काव्य-शास्त्र का निर्माण नहीं अपितु संस्कृत काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों के आधार पर रचनायें कर उनकी मधुरता को आगे लाना था।[3] इसी कारण जसवन्तसिंह ने 'भाषाभूषण' नामक अपने अलंकार ग्रन्थ में संस्कृत के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' की पद्धति और आधार को तो लिया, किन्तु वे चन्द्रालोक के अलंकार की अनिवार्यता वाले सिद्धान्त से दूर रहे ।[4]

२—ग्रन्थ रचना का उद्देश्य

इस स्थल पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'रीतिकाल' में प्रचलित परंपरा के प्रतिकूल जसवन्तसिंह के लक्षण-लक्ष्य-बद्ध अलंकार ग्रन्थ 'भाषा-भूषण' की रचना का मुख्य उद्देश्य क्या था ?

उस युग में राज्याश्रित काव्य का निर्माण हो रहा था और कवियों का मुख्य उद्देश्य अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करना ही रह गया था। शृंगार रस से परि-पूर्ण स्तुतिपरक काव्य का निर्माण कर ये कविगण अपने आश्रयदाता को सन्तुष्ट करना ही अपना ध्येय मानने लगे, क्योंकि उसके सन्तुष्ट रहने पर ही उनको सुखद आश्रय एवं पुरस्कारों की उपलब्धि हो सकती थी।[5] परन्तु जसवन्तसिंह के सामने ऐसा कोई प्रश्न नहीं था। उनको न तो स्वरचित काव्य द्वारा किसी को प्रसन्न ही करना था

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६५ ।

२ वही पृ० २६५ ।

३ हिन्दी साहित्यका बृहत् इतिहास, पृ० २६१ ।

४ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २८६ । राजस्थान का पिंगल साहित्य पृ० ८४ ।

५ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास— पृ० २६१ ।

और न आश्रय पाने के लिये स्तुति-परक काव्य का निर्माण करना था, क्योंकि वे तो स्वयं ही कवियों के आश्रयदाता थे। उन्होंने केवल काव्यशास्त्र की अभिरुचि को ध्यान मे रखकर 'भाषाभूषण' की रचना की। जयदेव के समान उन्होंने भी एक ही छंद दोहा, अथवा सोरठा मे, शास्त्रीय विवेचन और उदाहरण को सम्मिलित करने का स्तुत्य प्रयास किया और सफल भी हुए।[१]

'भाषाभूषण' की रचना का दूसरा उद्देश्य एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण था जिसमें पाठक को काव्यशास्त्र का परिचय मिल सके। स्वय कवि ने अपने इस उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट किया कि 'भाषाभूषण' की रचना भाषाविद् एव काव्य कला में प्रवीण अर्थात् काव्यरसिक व्यक्ति के लिये की गई है।[२] इसके अतिरिक्त अपनी रचना को नवीन कहकर कवि ने यह संकेत भी दिया कि इसके पूर्व भी इस विषय पर कुछ ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था, फिर भी लेखक ने इसकी रचना भाषा—निपुण और काव्य-प्रवीण रसिको के लिये नए ढग से करनी उचित समझी।[३]

'भाषाभूषण' की रचना का तीसरा उद्देश्य उस युग के साधारण शिक्षित पाठकों को अलकार का ज्ञान कराना भी था।[४] उनको अलंकारों का ज्ञान प्रचलित भाषा और सुगम छंद में ही सरलता पूर्वक कराया जा सकता था। इसलिये भी सीधे-सादे दोहा छंद मे ही जसवन्तसिंह ने यह ग्रन्थ लिखा।

३— ग्रन्थ का नामकरण और उपादेयता

इस ग्रन्थ के नाम करण के विषय मे स्वयं कवि ने लिखा है कि यद्यपि इसमें नायक—नायिका के भेद, रस तथा हाव—भाव की भी चर्चा है, परन्तु चूंकि प्रधानता अलंकार-विवेचन की है, इसलिये 'भाषा और भूषण' के संयोग से इस ग्रन्थ का नाम 'भाषा—भूषण' रखा गया है।[५]

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास—पृ० २९२।

२ ताही नर के हेतु यह, कीन्हो ग्रन्थ नवीन। जो पडित भाषा—निपुन, कविता विषै प्रवीन ॥ (२१०)

३ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० ४४४।

४ हिन्दी अलकार साहित्य—ओम् प्रकाश, (दिल्ली १९५६), पृ० २५०।

५ लच्छन तिय अरु पुरुष के, हाव भाव रस धाम।
अलंकार संजोग ते, भाषा—भूषन नाम ॥ (२११)

ग्रन्थ की उपादेयता के सम्बन्ध में भी कवि का कहना है कि जो भी मनुष्य ध्यानपूर्वक इस ग्रन्थ का अवलोकन करेगा उसके लिये साहित्य के विविध अर्थ तथा रस अत्यन्त सुगम हो जायेंगे।[1]

४– भाषा और शैली

इस ग्रन्थ की रचना ब्रजभाषा में की गई है। जहां तक इस की शैली का प्रश्न है, जसवन्तसिंह ने संस्कृत काव्य शास्त्र के आचार्यों की ही परंपरा का सहारा लिया है। रीति युगीन आचार्यों ने भामह, दंडी, जयदेव एवं अप्पय दीक्षित द्वारा प्रतिपादित संस्कृत की पद्यात्मक शैली को अपनाया। इन लोगों ने दोहा एवं सोरठा छंद का प्रयोग लक्षण बतलाने तथा कवित्त और सवैया छंद का प्रयोग उदाहरण देने के लिये किया। जसवन्तसिंह ने इस पद्यात्मक शैली की अनुकृति थोड़ी भिन्नता के साथ की। जयदेव के चन्द्रालोक के समान इन्होंने भी एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने का प्रयत्न किया।[2] इस शैली पर अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द का अनुकरण करते हुए हिन्दी में अलंकार ग्रन्थों का निर्माण गोपा की अलंकारचन्द्रिका से हो चुका था, परन्तु इस शैली को वास्तविक प्रतिष्ठा 'भाषा-भूषण' से ही हुई। इसमें लेखक ने 'चन्द्रालोक' के समान सभी काव्यांगों की चर्चा नहीं की, अपितु 'कुवलयानन्द' के आधार पर अलंकार विषय को सर्वसुलभ बनाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार 'भाषा-भूषण' अलंकार-सम्प्रदाय का ग्रन्थ है।[3] अलंकार के भेद–उपभेद के झगड़े में न पड़ लेखक ने अलंकारों के मुख्यांगों को ले उन्हें सरल एवं बोधगम्य शैली में समझाने का प्रयत्न किया।

---

१ भाषा-भूषन ग्रन्थ को, जो देखे चितुलाय। विविध अर्थ–साहित्य रस ताहि सकल दरसाय ॥ (२१२)

२ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास – पृ० २६२–२६३। रीतिकाव्य की भूमिका–नगेन्द्र पृ० १४८, ४६।

३ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास– पृ० ४४६, हिन्दी साहित्य का इतिहास– पृ० २६५, मिश्रबन्धुविनोद, खण्ड २, पृ० ४१८, हिन्दी साहित्य भाग २ पृ० ४३२, हिन्दी लिट्रेचर, पृ० ४२, शिवसिंह सरोज, पृ० ४२८, हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ८७, हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास पृ० ८४, राजस्थानी साहित्य की रूप रेखा– पृ० ९३।

समस्त ग्रन्थ की रचना केवल 'दोहा' छंद में है, जो उस समय हिन्दी काव्यकारों को, संस्कृत आचार्यों के प्रिय छंद श्लोक की ही भाँति, प्रिय था। दोहा आकार की दृष्टि से छोटा छन्द है। इसलिये एक ही दोहे में लक्षण तथा उदाहरण दोनों ही दे देने से विषय भी सरल और सुबोध हो गया है। वर्णन की संक्षिप्तता तथा सरलता इसकी एक प्रमुख विशेषता है और इसीलिये यह अपनी श्रेणी का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ माना जाता है।[1]

५– रचना–काल

इस ग्रन्थ की रचना जसवन्तसिंह ने १६६० ई० (१७१७ वि०) में की। इस समय इनकी अवस्था केवल ३४ वर्ष की थी।[2]

६– 'भाषाभूषण' का वर्ण्य विषय

जहां तक 'भाषाभूषण' के वर्ण्य-विषय का प्रश्न है, इसमें अलंकारों का का विवेचन किया गया है। विषय की दृष्टि से इसे पांच अंशों में विभाजित किया

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास– पृ० ४४६; हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २६५; हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ७८; हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास पृ० ८४; राज० साहित्य की रूपरेखा– पृ० ९३; एवं राज० पिंगल का साहित्य, पृ. ८४।

२ खोज रिपोर्ट १९०३–श्यामसुंदरदास, (का० ना० प्र० सभा०), नं० १४४; हिन्दी ग्रन्थों की खोज का संक्षिप्त विवरण– श्यामसुंदरदास– पृ० ११०; राज० का पिंगल साहित्य, पृ० ७८। हिन्दी काव्य–शास्त्र का इतिहास, पृ० ४१, पर डा० भगीरथ मिश्र ने इसका रचनाकाल १६३८ ई० (१६९५ वि०) दिया है। उनका यह कथन युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता, क्योंकि १६२६ ई० में तो जसवन्तसिंह का जन्म ही हुआ था और इस समय उनकी अवस्था केवल १२ वर्ष की थी। इतनी कम अवस्था में ऐसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ की रचना स्वाभाविक नहीं जान पड़ती। इसलिये इसका रचना-काल १६६० ई० (१७१७ वि०) ही ठीक जान पड़ता है।
इस ग्रन्थ की बहुत सी प्रतिलिपियाँ हुई हैं, जिनमें सबसे प्राचीन १७२७ ई० (१७८४ वि० तथा नवीनतम १८८४ ई० (१९४१ वि०) की है। विभिन्न प्रतिलिपियों के विशेष विवरण के लिये देखिये– खोज रिपोर्ट (का० ना० प्र० सभा), १९०६–८, १९२०–२२, १९२३–२५, १९२६–२८, एवं राज० में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, पृ० ९८।

सकता है—प्रथम में मंगलाचरण (५ दोहे), द्वितीय में नायक व नायिका भेद (३७ दोहे) तृतीय मे हावभाव वर्णन (१६ दोहे), चतुर्थ में अर्थालंकार (१५६ दोहे) ; तथा पांचवें और अन्तिम खंड में शब्दालंकार (१० दोहे) का विवेचन है। इसके अतिरिक्त अन्त के पांच दोहों में कवि ने ग्रन्थ-प्रयोजन पर विचार किया है ।[1] कुल मिलाकर 'भाषाभूषण' में २१२ दोहे हैं जिनमें से १६६ दोहे अलंकार विषय की तथा ३६ दोहे काव्यांगों की चर्चा करते हैं। इस प्रकार विषय-प्रतिपादन करनेवाले दोहों की संख्या २०२ आती है। शेष दस दोहे मंगला चरण तथा उपसंहार के हैं। अलंकार-विषयक दोहों में लक्षण के साथ साथ उदाहरण भी दिये गए हैं, जबकि काव्यांगों के केवल लक्षण के साथ-साथ उदाहरण भी दिये गये हैं जबकि काव्यांगों के केवल लक्षण मात्र ही दिये गये हैं।[2] यह इस तथ्य का द्योतक है कि यह अलंकार-संप्रदाय का ग्रन्थ है।

भाषाभूषण' मे वर्णित अलंकारों की संख्या १०८ है, जिसमे १०२ अर्थालंकार एवं ६ शब्दालंकार हैं।[3] यमक अलंकार का वर्णन अलग से न कर अनुप्रास के अन्तर्गत कर दिया गया है।[4] कवि ने रसवत आदि पन्द्रह अलंकारों को स्वीकार नहीं किया। चतुर्थ खंड मे १०१ अर्थालंकारों का वर्णन है, परन्तु यदि 'पूर्णोपमा' और 'लुप्तोपमा' को अलग-अलग गिना जाये तो इनकी संख्या १०२ हो जाती है। इनमें भी यदि 'चित्र' अलंकार को अलग कर दिया जाय तो शेष १०० अलंकारों का क्रम अप्पयदीक्षित के १०० अलंकारों के अनुसार हो जाता है।[5] परन्तु जयदेव द्वारा वर्णित अलंकारों का क्रम कुछ भिन्न है।

---

१ हिन्दी अलंकार साहित्य पृ० ७८।

२ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—पृ० ४४६, हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ७८।

३ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—पृ० ४४६, हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ७६, इसके अतिरिक्त 'भाषाभूषण' के निम्न दोहे से भी इस कथन की पुष्टि होती है —
अलंकार सब्दार्थ के, कहे एक सौ आठ।
किए प्रगट भाषा-विषै, देखि संस्कृत पाठ ॥ (२०८)
अप्पयदीक्षित कृत 'कुवलयानन्द' में भी अलंकारों की संख्या १०८ है। इससे लगता है कि इसी ग्रन्थ को जसवन्तसिंह ने अपना आधार बनाया।

४ जमक, शब्द को फिरि स्रवन, अर्थ जुदा सो मानि। (२०२)

५ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास—पृ० ४४६, हिन्दी अलंकार साहित्य—पृ० ८०।

अप्पयदीक्षित और जसवन्तसिंह के अलंकारों के नाम भी एक हैं। केवल 'कारण-माला' के स्थान पर 'गुम्फ' और 'उत्तर' के स्थान पर 'गूढोत्तर' का प्रयोग ही इसका सामान्य अपवाद है। 'गुम्फ' नाम 'चन्द्रालोक' के प्रभाव का परिचायक है। चित्र नामक अर्थालंकार 'कुवलयानन्द' में वर्णित उत्तर अलंकार के एक भेद चित्रोत्तर का एक संक्षिप्त नाम है।[१]

'भाषाभूषण' को प्रायः 'चन्द्रालोक' की छाया समझा जाता है, परन्तु उसकी अपेक्षा यह 'कुवलयानन्द' के अधिक समीप है। अलंकार, विषय–वर्णन की प्रधानता, अलंकारों के नाम एवं क्रम, उनकी संख्या तथा शब्दालंकारों के विस्तृत वर्णन की उपेक्षा इसके प्रमाण हैं। कई उप–भेदों का वर्णन करनेवाले उल्लेख, विभावना एवं असंगति आदि अलंकार भी 'कुवलयानन्द' के ही अनुकरण पर है।[२] इस प्रकार मुख्य वर्ण्य विषय अर्थालंकार ही है।

शब्दालंकारो का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन है। जसवन्तसिंह ने जयदेव कृत 'चद्रालोक' के आधार पर अत्यन्त संक्षेप में शब्दालंकारो का वर्णन करते हुए केवल 'अनुप्रास' अलंकार को ही विवेच्य समझा।[३]

अलंकारो के लक्षण अधिकतर संस्कृत से अनूदित है और कहीं–कहीं पर तो मूल संस्कृत शब्दावली तक को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया है। उदाहरणों में अनुवाद बहुत कम है तथा मौलिक उदाहरणों की बहुलता है। ये उदाहरण अत्यधिक सरस, मधुर एव आकर्षक है। 'चद्रालोक' और 'कुवलयानद' के अनुकरण पर एक ही दोहे में लक्षण व उदाहरण दोनों ही दिए गये हैं।[४]

लक्षण–लक्ष्य समन्वय दो प्रकार से किया गया है। पहले ढंग से एक ही दोहे में अलंकार का लक्षण और उसका उदाहरण वर्णित है। किन्तु जहां अलंकारों के अनेक भेद–उपभेद हैं, वहां दूसरी पद्धति का सहारा लिया गया है। ऐसी जगहों पर पहले तो

---

१ हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ८०।

२ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० ४४६

३ हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ० ७६।

४ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—पृ० ४४७।

लक्षण में सब भेदों को अलग-अलग बताया गया है और फिर एक साथ ही क्रमश सब भेदों के उदाहरण दिये गये हैं। इस पद्धति का आश्रय 'निदर्शना' एव (पर्यायोक्ति) आदि अलकारों के विवेचन के समय लिया गया है।[१]

७ ग्रन्थ का महत्त्व

'भाषाभूषण' में सारग्राहिता के साथ-साथ सरसता एव मधुरिमा भी है और सस्कृत के ग्रन्थों की छाया से प्रभावित होते हुए भी यह एक मौलिक ग्रन्थ है। इसमें अलकारों के लक्षण करते हुए उनके उदाहरण उपयुक्त और मौलिक दिये गये हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ के रूप में 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' की आत्मा ही मानों पद्यात्मक व्रजभाषा के रूप में अवतरित हो गई।[२] भाषा-भूषण से ही अप्पयदीक्षित की अनुकृति पर जयदेव का 'चद्रालोक' शैली की रचनाओं का प्रारम्भ हुआ और इस शैली का यह सर्वोत्तम, स्वच्छ और प्रौढ़ ग्रन्थ है। इसको आज भी हिन्दी-साहित्य में अत्यन्त सम्मानप्रद स्थान प्राप्त है। अलकारों के प्रारम्भिक ज्ञान के लिये आज भी यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ है।[३]

---

१ हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास—पृ० ४८७, हिन्दी अलकार साहित्य पृ० ८२।

२ हिन्दी अलकार साहित्य—पृ० ८६।

३ 'भाषाभूषण' के विषय मे डा० ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आव् हिन्दुस्तान (पृ० १००) एव शिवसिंह सेंगर ने अपने 'शिवसिंहसरोज' (पृ० ४२०) में यह भ्रम व्यक्त की कि इसकी रचना जोधपुर के जसवन्तसिंह ने नहीं, अपितु तिरवा (कन्नौज) के बघेला शासक जसवन्तसिंह ने की है। ग्रियर्सन ने 'रागकल्पद्रुम' और 'राग सागर उद्भव' के आधार पर अपनी शका मात्र व्यक्ति की, किन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया। शिवसिंह सेंगर ने भी इतना ही कहा कि इन्होंने 'भाषा-भूषण' की रचना भी 'शृगारशिरोमणि' के साथ साथ की। परन्तु उनके मत पर भी शकाये की गई हैं (देखिये शिवसिंहसरोज का परिशिष्ट, पृ० ७)। उचित प्रमाणों के अभाव में इन दोनों विद्वानों के मत स्वीकार नहीं किये जा सकते। जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह को ही इस ग्रन्थ का वास्तविक लेखक माना जाना चाहिये।

इस ग्रन्थ का महत्त्व इससे भी सिद्ध होता है कि परवर्ती साहित्यकारों ने 'भाषा-भूषण' के आधार पर अलंकार ग्रन्थों की रचना की और इस पर टीकायें भी लिखीं। अनुकरण करनेवालों की तो लम्बी शृंखला मिलती है, जिसमें शिवप्रसाद कृत रस-भूषण, दूलह कवि कृत कविकुलकंठाभरण, नवलगढ़ के रामसिंह कृत 'अलंकारदर्पण' एवं ब्रह्मदत्त कृत 'दीप-प्रकाश' उल्लेखनीय हैं।[४]

वर्ष १८ . अंक २

—दुर्गा-भवन, टैगोर नगर,
इलाहाबाद

---

४ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास—क्रमशः पृ० ४७५, ४६१–६३, ४६८–६६ एवं ४७३।

● श्री तेजसिंह तरुण

अगरचन्द महता

राजस्थान के राजपूत जहां शौर्य और पराक्रम के लिये इतिहास में प्रसिद्ध हैं वहां इस प्रदेश के ओसवाल (जैन) कूट नीति व प्रशासनिक योग्यता के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में जिस मेवाड़ का अपना विशिष्ट स्थान है, उसको समय समय पर आये संकटों से बचाकर निकालने का श्रेय ओसवाल जाति के भी कुछ व्यक्तियों को है, जिनमें बोहित्थ, विल्हा, भामाशाह, दयालदास, सर जोरावरमल, मालदास और अगरचन्द के नाम बड़े सम्मान के साथ लिये जाते हैं। उपरोक्त व्यक्तियों में अगरचन्द महता की मेवाड़ को बहुत देन रही है, जिसे शायद ही कोई विस्मृत कर पायेगा।

अगरचन्द के पूर्वज मूलत चौहानवंशीय राजपूत ही थे, जिन्हें जिनेश्वर सूरि ने जैनधर्म की दीक्षा देकर जैन (ओसवाल) बनाया। जैनधर्म को स्वीकार करने के बाद अगरचन्द के वंशज अणहिल-पत्तन (पाटण) व बीकानेर में राजकीय सेवाओं में रहे। मेवाड़ में इस वंश के पूर्वज भाणा से ही इतिहास पढ़ने को मिलता है।[1] भाणा के बाद पांचवी पीढ़ी में अगरचन्द हुआ था। अगरचन्द व भाणा के बीच के व्यक्ति भी मेवाड़ के उच्च पदों पर काम कर चुके थे। महाराणा अरिसिंह (द्वितीय) ने अगरचन्द की कार्य कुशलता से खुश होकर उसे मांडलगढ़ का किलेदार तथा हाकिम नियुक्त किया।[2] यही नहीं आगे चलकर वह महाराणा का निजी सलाहकार और १० दिसम्बर १७६६ को प्रधान बनाया गया। अगरचन्द के प्रधान बनने के बाद मेवाड़ में प्रशासनिक व्यवस्था में आश्चर्य जनक सुधार आया। इस समय मेवाड़ मरहठों के आक्रमणों से घिरा हुआ था तथा आर्थिक समस्याओं के बादल अपनी गरज से जन सामान्य तथा

---

१ उदयपुर के महताओं की तवारीख।

२ तब से १६४७ ई० तक मांडलगढ़ की किलेदारी अगरचन्द के वंशजों में बराबर चली आती रही।

राणा को भयभीत करने में लगे थे। ऐसे समय में महता अगरचन्द ने अत्यन्त कुशलता के साथ मेवाड़ की नौका को पार लगाने में बहुत कुछ अंशों में सफलता दिलाई। गनीमों के पंजे से मेवाड़ को बचाने का श्रेय भी अगरचन्द को है।[1]

योद्धा के रूप में

मेवाड़ के इतिहास में अगरचंद का स्थान योद्धा के रूप में भी सुरक्षित है। यहाँ के ओसवालों ने जहाँ आर्थिक क्षेत्र में अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया, वहां वे युद्ध के मैदान में भी शौर्य व पराक्रम का परिचय देने में भी पीछे नहीं रहे हैं। अगरचन्द ने भी भामाशाह[2], दयालदास[3], दीपचन्द[4] मालदास[5] आदि की तरह कई बार युद्ध के मैदान में अपनी योग्यता का परिचय दिया। तत्कालीन महाराणा अरिसिंह व माधवराव के बीच हुई उज्जैन की लड़ाई में वह लड़ा था और वहाँ घायल और उसी समय कैद भी किया गया था। जब माधवराव ने उदयपुर पर घेरा डाला और लड़ाई शुरू हुई थी तब भी महाराणा ने अगरचन्द को अपने साथ रखा था। इससे एक बात तो स्पष्ट हो गई कि अगरचन्द महाराणा का संकट में विश्वासपात्र साथी था।[6] अगरचन्द ने केवल ये युद्ध ही नहीं लड़े, वरन् उसने गंगरार व टोपल मगरी के पास महापुरुषों के साथ हुई लड़ाई में भी

---

१ द्रष्टव्य, श्यामलदास कृत वीरविनोद।

२ वही।

३ वही।

४ ओझा; उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग २।

५. वही।

६ स्वस्ति श्री भाई मेहता अगरा अप्रंच ॥ उजीण रो झगडो बिगड़ गयो जीगी मारे पूरी अमूजणी है न था जस्या सपूतं चाकर मारे है सो या अमूजणी भी श्री एकलंगजी मेटेगा थूं पकड़ाय गयो गनीम था न का सूं जवान केवाय छोड़े जणी हैं थूं मारे नहीं या था है नदी धोय मारे तो आधी लकड़ी थूं है अठा सूं सोसिंघजी ने मेलिया है सो जवणो को छूट हाजर हुंजे ओछल राखी है तो थाहे मारो लाख सोगन है। संवत १८२५ रा बरसे माह सुद १३।

Mewar and the Maratha relations (Mss.) : Dr. K. S Gupta, page 251.

भाग लिया। बीच में एक बार अगरचन्द प्रधान के पद पर नहीं रहा, किन्तु जब, मरहठों के द्वारा सम्पूर्ण मेवाड़ में आतंक छा गया था तब महाराणा ने पुन उसे प्रधान के पद पर बिठाया था। महाराणा का अगरचन्द पर इतना विश्वास सम्भवत उस समय से ही जम गया था, जब मेवाड़ के कुछ सरदारों द्वारा कुम्भलगढ़ में रत्नसिंह नामक व्यक्ति को राणा बनाने के षडयन्त्र उसके द्वारा असफल कर दिये गये थे। रत्नसिंह को कुम्भलगढ़ से भगाने में भी अगरचन्द का ही महत्वपूर्ण हाथ था। उपरोक्त अध्ययन से ऐसा लगता है कि अगरचन्द अपने समय में मेवाड़ का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति हुआ था।

अगरचन्द की अग्निपरीक्षा

अगरचन्द के समय में मेवाड़ की दशा अच्छी नहीं थी। महाराणा स्वय अनेकानेक मुसीबतों से अपने को घेरे हुए पाकर बहुत अधिक चिन्तित थे, किन्तु अगरचन्द ने अपनी प्रबन्ध कुशलता, परिश्रम और योग्यता से राज्य-प्रबन्ध की नींव को दृढ़ करने के लिये कई अथक प्रयत्न किये। फिर भी इस बीच में उसे प्रधान का पद छोड़ना पड़ा था। ऐसे समय में भी उसने बिगर किसी नाराजगी जाहिर किये वह राज्य की सेवा में लगा रहा, जसा कि वीरविनोद में एक जगह उसके बारे मे लिखा है—'मुसाहिब प्रधान एवम् उहदे से बतरफ किये जाने पर भी मालिक का खेरख्वाह बना रहा।" अगर ऐसे समय पर वह नाराजगी वश राज्य के कार्यों में उपेक्षावृत्ति काम मे लेता तो उसे एवम उसके वश को वह सम्मान नहीं मिलता जो बाद मे कई वर्षों तक मिला।[1] स्वय अगरचन्द ने इस बात को स्वीकारा है कि मैं खेरख्वाही के सबब छोटे दरजे से बड़े रुतबे को पहुचा हू। उसकी खेरख्वाही वीरविनोद में इस प्रकार दर्शाई गई है कि 'अलबत्तह वह दोनों पार्टियों में चुण्डावतों का तरफदार गिना जाता था लेकिन अपने मालिक के नुकसान में कभी शरीक नहीं हुआ।"

तथाकथित खून और तलवार से दूर रहनेवाली जाति मे जन्म लेने वाला अगरचन्द युद्ध के मैदानों मे मेवाड़ के अनुरूप अपने शौर्य और पराक्रम का

---

१ अगरचन्द मेहता के बाद उसके चार वशजों (मेहता देवीचन्द शेरसिंह गोकुलचन्द और पन्नालाल) ने मेवाड़ के प्रधान पद को सुशोभित किया।

परिचय दिया तथा अपने देश को संकटों से पिण्ड छुड़ाने के लिये सर्वस्व की बाजी लगा दी। अतः जब-जब भी मेवाड़ में शुभ चिन्तकों, राष्ट्र भक्तों व स्वामिभक्तों का स्मरण किया जायेगा, निस्सन्देह अगरचन्द मेहता की प्रबन्ध-कुशलता, स्वामिभक्ति व योग्यता को नहीं भुलाया जा सकेगा।

वर्ष १८ : अंक २

रेजीडेन्सी रोड,
उदयपुर (राज०)

● डा० देवीलाल पालीवाल

महाराणा प्रताप का प्रारम्भिक जीवन

महाराणा प्रताप के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में अबतक कुछ भी ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में नहीं आई है और इतिहासकारों को प्रताप के राज्यारोहण के पूर्व के जीवन के सम्बन्ध में अनुमान का सहारा लेना पड़ा है।

१५७२ ई० मे बत्तीस वर्ष की आयु में प्रताप को मेवाड़ के शासनाधिकार प्राप्त हुए। १५६७ ई० में अकबर के चित्तौड़ आक्रमण के समय प्रताप २७ वर्ष का था। प्रताप जब १९ वर्ष का था, उसके प्रथम पुत्र अमरसिंह का जन्म हुआ और उसी वर्ष महाराणा उदयसिंह द्वारा अरावली के पर्वतीय इलाके के भीतर अपने राजवंश के इष्टदेव श्री एकलिंगजी के स्थान से कुछ मील आगे वर्तमान उदयपुर नगर बसाने का उपक्रम किया गया। खानवा के युद्ध (१७ मार्च, १५२७ ई०) की पराजय के बाद के दस वर्ष मेवाड़ के लिये बड़े विध्वंसकारी रहे जिसके दौरान में गृह-कलह के अतिरिक्त गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने दो बार चित्तौड़ पर आक्रमण किया और चित्तौड़ का दूसरा साका हुआ। महाराणा उदयसिंह के लम्बे राज्यकाल (१५३७-१५७२ ई०) के दौरान में १५६७ ई० तक मेवाड़ को अपेक्षाकृत शांति नसीब हुई, किन्तु मेवाड़ पहले की शक्ति एवं स्थिति को ग्रहण नहीं कर सका। इस काल की एक विशेष घटना यह रही कि चित्तौड़ पर बारबार होनेवाले आक्रमणों को ध्यान में रखकर महाराणा उदयसिंह द्वारा पर्वतीय इलाके में शक्ति सगठन की तैयारी की गई।

यह स्वाभाविक है कि प्रताप ने कुंवरपद-काल में मुख्यतः युवावस्था प्राप्त होने के बाद मेवाड़ मे होनेवाली घटनाओं मे सक्रिय योगदान दिया हो। मेवाड़ की प्राचीन वंशावलियों मे यह उल्लेख मिलता है कि प्रताप ने कुंवरपदे मे कई युद्ध किये और सोम नदी के किनारे वागड़िया चौहानों से युद्ध किया तथा उन्हें पराजित किया।[1]

---

१ एयनश, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान उदयपुर, प्र० सं० ८२७।

युद्ध-कौशल

संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ 'अमरकाव्यम' में उल्लेख है कि प्रताप ने अपने कुंवरपद-काल में वागड़ के चौहान सावलदास और कर्मसी को मारकर वागड़ प्रदेश पर विजय प्राप्त की।[१]

वीरविनोद (भाग २, पृ० १५६) एवं डॉ० ओझा कृत उदयपुर राज्य का इतिहास (भाग २ पृ० ४४६) के अनुसार महाराणा प्रताप ने अपने राज्य-काल में १५७८ ई० के आसपास रावत भाण के नेतृत्व में डूंगरपुर एवं बांसवाड़ा के विरुद्ध सेना भेजी। सोमनदी पर लड़ाई हुई जिसमें चौहान हारकर भाग गये।

ओझाजी ने अपने डूंगरपुर राज्य के इतिहास (पृ० ६०) में वनेश्वर महादेव के पास के विष्णुमन्दिर की वि० सं० १६१७ की प्रशस्ति के आधार पर महाराणा उदयसिंह एवं डूंगरपुर के महारावल आसकरण की सेनाओं के मध्य युद्ध होने का उल्लेख किया है। इस प्रशस्ति के अनुसार डूंगरपुर की सेनाएं विजयी रहीं।

मुंणोत नैणसी ने डूंगरपुर और मेवाड़ के बीच हुए युद्ध का जिक्र करते हुए लिखा है कि इस युद्ध में आमेट वालों का पूर्वज रावत जग्गा माही नदी के किनारे काम आया। जग्गा महाराणा उदयसिंह को गद्दी पर बिठाने में सहायक रहा था।

आसकरण का राज्यकाल १५४९ से १५८० ई० तक रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके काल में मेवाड़ के दो आक्रमण हुए, प्रथम महाराणा उदयसिंह के राज्य-काल में, जिसका सेनापतित्व कुंवर प्रताप ने किया हो और द्वितीय प्रताप के राज्य काल में, आसकरण द्वारा अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेने के बाद।

१ प्रतापसिंहः प्रथमं कुमारपदशोभितः रानाभिधानविसदधर सावलदास एवं तद् भ्रातरं करमसी चोहानं हतवान् रणे बभंज वागडभुवं निजाधीनामिमा व्यधात्—अमरकाव्यम्। अमरकाव्यम् का रचयिता रणछोड़ भट्ट था, जिसने राजप्रशस्तिमहाकाव्य नामक संस्कृत ग्रंथ की भी रचना की, जो राजसमन्द झील पर पच्चीस शिलाओं पर उत्कीर्ण है। अमरकाव्यम् का रचनाकाल डॉ० ओझा ने ग्रंथ नाम के आधार पर गलती से महाराणा अमरसिंह (प्रथम) का काल मान लिया है उदयपुर राज्य का इतिहास भाग १, पृ० ४२०)। रणछोड़ भट्ट मेवाड़ के महाराणा राजसिंह एवं अमरसिंह (द्वितीय) का समकालीन कवि रहा है। जयसिंह के पुत्र महाराणा अमरसिंह (द्वितीय) के नाम पर इस ग्रंथ का नामकरण किया गया, ऐसा प्रतीत होता है।

प्राचीन डिंगल-काव्य-संग्रह[1] में बागड़ के सांवलदास और कर्मसी चौहानों सम्बन्धी, चारण कवि मेहा वीठू कृत कवित्त मिलते हैं। ये चौहान वीर तत्कालीन डूंगरपुर शासक आसकरण की ओर से मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह की सेना से लड़ते हुए काम आये। मेहा वीठू के अनुसार मेवाड़ का आक्रमण डूंगरपुर के राजा द्वारा महाराणा को दंड एवं घोड़े देने से इन्कार करके उसके आधिपत्य को चुनौती देने के कारण किया गया था।[2] इन कवित्तों में मेवाड़ की सेना के साथ कुंवर प्रताप के होने का उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु मेवाड़ की ओर से लड़ने गये कुछ सरदारों के नाम मिलते हैं, जैसे रावत जग्गा (आमेट वालों का पूर्वज), रावत खेतसिंह सिसोदिया, भवानीदास, रायसिंह, दुगा सिसोदिया, साईदास (सलूम्बर के चूंडावतों का पूर्वज)[3] और बीता। इसमें जग्गा के मारे जाने का उल्लेख है। मेहा वीठू के काव्य के अनुसार किसकी विजय हुई, यह स्पष्ट नहीं है, किन्तु बाद की परिस्थितियां एवं घटनाएं यह इंगित करती हैं कि डूंगरपुर परम्परा से मेवाड़ के आधिपत्य को स्वीकार करता रहा। अकबर की आधीनता स्वीकार करने के बाद ही डूंगरपुर मेवाड़ से अलग हुआ। इस युद्ध के समय कुंवर प्रताप की आयु १८-२० वर्ष की होनी चाहिये और वह इस युद्ध में शरीक था, ऐसा माना जा सकता है। प्रताप ने अपने कुंवर काल में ऐसे कई युद्धों में अपना साहस और शौर्य प्रदर्शित किया, जिससे प्रभावित होकर ही मेवाड़ के बड़े सरदारों की राज-परिषद ने महाराणा उदयसिंह द्वारा अपनी मृत्यु से पूर्व किया गया मेवाड़ के उत्तराधिकार का निर्णय बदल दिया और इस कार्यवाही से मेवाड़ के सामन्तों में फूट नहीं पड़ी, जैसा कि लगभग उसी काल में जोधपुर में हुआ।[4]

---

१ साहित्य संस्थान, रा० वि०, ग्र० सं० ३०७, वि० सं० १७१६ की प्रतिलिपि।

२ वही। परवात मेदि निवोत पति डूंगरपुर म दनिसरो। ताँगिया उदेसिंघ मझपै, लियो दंड घोड़ा दियो।

३ चूंडावत [illegible] के वीर [illegible] ने बाद में राठौड़ सिंहा को मारकर सलूम्बर पर अधिकार किया। तब से [illegible] सलूम्बर की जागीर पर इनके वंशजों का अधिकार रहा। (डॉ० ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग २ पृ० ८८२)।

४ जोधपुर के मालदेव की मृत्यु पर, [illegible] उसकी इच्छा अनुसार उसका कनिष्ठ पुत्र चन्द्र-

नैणसी ने इस युद्ध का माही नदी के किनारे होना लिखा है, जबकि मेवाड़ की वंशावलियों के अनुसार यह युद्ध सोम नदी के तट पर हुआ। माही नदी डूंगारपुर और बांसवाड़ा राज्य की सीमा बनाती हुई गुजरात में प्रवेश करती थी। सोम नदी उदयपुर और डूंगरपुर राज्यों की सीमा निश्चित करती थी। इस दृष्टि से यह युद्ध सोमनदी के किनारे पर घटित हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है।

अमरकाव्यम् में आगे उल्लेख है कि कुंवर प्रताप ने सलूंबर के राठोड़ों को पराजित कर उनसे छप्पन प्रदेश जीता।[1] वालों को हस्तगत कर गोड़वाड़ प्रदेश पर विजय प्राप्त की।[2]

पिता का व्यवहार

मेवाड़ के इतिहास में यह प्रसिद्ध है कि महाराणा उदयसिंह ने अपनी चहेती भटियाणी रानी से उत्पन्न अपने कनिष्ठ पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था, जिस निर्णय को मेवाड़ के सरदारों ने महाराणा की मृत्यु के बाद बदल दिया।

सेण शासक बना। किन्तु मेवाड़ वाली घटना यहा नहीं घटी। मारवाड़ के राठोड़ों में फूट पड़ गई और मालदेव का ज्येष्ठ पुत्र रामसिंह मुगल सेनाएं जोधपुर पर चढ़ाकर ले आया। परिणाम स्वरूप मारवाड़ मुगलो के आधीन हो गया और चन्द्रसेण अपने साथी राठोड़ सरदारो को साथ लेकर जीवन पर्यन्त मुगल विरोधी संघर्ष में लगा रहा।

१ मेवाड़ के दक्षिणी पश्चिमी पर्वतीय भाग के वागड़, छप्पन एवं भोमट प्रदेशों के मूल निवासी भील लोग हैं। मुस्लिम आक्रमणों के बाद जब राजपूत शक्तियां छिन्न–भिन्न होने लगीं उस समय वागड़ प्रदेश में चौहानो ने आधिपत्य जमाया, जो बाद मे मेवाड़ के गहलोतों द्वारा विजय किया गया। इसी प्रकार छप्पन प्रदेश पर राठोड़ो ने अधिकार किया [इम्पीरियल गजेटियर–राजपूताना, पृ० १५५]।

२ गोडवाड़ पर पहले चौहानों का अधिकार था। बाद में मेवाड़ के महाराणाओं द्वारा विजय किया गया (इम्पीरियल गजेटियर–राजपूताना, पृ० १६३)। मेवाड़ के संकट काल के दिनो में यह प्रदेश जोधपुर के प्रभाव में चला गया।

इस घटना से यह प्रकट होता है कि प्रताप और उसके पिता महाराणा उदयसिंह के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे। पिता-पुत्र के संबंध पर प्रकाश डालनेवाले तथ्य नहीं मिलते। अमरकाव्यम् में इस प्रकार की स्थिति को प्रकट करनेवाला कुछ वृत्तान्त दिया गया है।

अमरकाव्यम में उल्लेख है कि महाराणा उदयसिंह ने यह सोचकर कि प्रताप भटियाणी का पुत्र नहीं है, उसको चित्तौड़ की तलहटी स्थित किसी गांवमें रखा। प्रताप के लिये अन्न से भरे पुटक भेजे जाते थे। प्रताप रसोई बनवाकर अपने अन्य दस भाईयों के साथ पंक्ति में बैठकर भोजन करता था। प्रताप ने जब राज्य पा लिया तब भी इस परम्परा को वह निभाता रहा —

श्रीराणोदयसिंहाख्यश्चित्रकूटस्थित [?]।
सौभाग्यशोभा भट्यानीनाम्नी राज्ञी गुणान्विता ॥

सगरादिसुताना तु माता यन्तद्वशवदा।
ज्येष्ठ प्रतापसिंहाख्यपुत्रस्य जननी न वा ॥
ज्ञात्वेत्युदयसिंहेन्द्रश्चित्रकूटतटीस्थिते।
कस्मिश्चिन्निकटे ग्रामे वासयामास त सुत ॥

भटियानीकराद्भु जन्स्वयमत पुर स्थित।
प्रतापसिंहाय सदा [?] शुन्नपरिपूरित ॥
पुटक प्रेषयन् दिव्यतोप तस्य पर व्यधात्।
प्रतापसिंह पुटकाद्द्रोणान्कृत्वाददर्श स ॥
दशभ्यो राजपुत्रेभ्यो बुभुजे ततस्वय तत।
कारयित्वा रसवती नित्य निजगृहे तथा ॥
प्रतापसिंहस्तैः साक राजपुत्रैस्तथेतरै।
कृत्वा पंक्ति मुदा चक्रे भोजन पंक्तिपावन ॥
तदुत्तर लब्धराज्य कृत्वा रसवती सदा।
द्विवार राजपुत्रेभ्यो द्रोणान्दत्त्वाथ पूर्ववत् ॥

प्रतापसिंहो बुभुजे एकपंक्तिस्थितैः सह।
राजपुत्रैः पवित्रैश्च रीतिरेखाभवत्ततः ॥[1]

इस प्रकार की स्थिति ने प्रताप के चरित्र, दृष्टिकोण एवं व्यवहार पर गहरा प्रभाव डाला। उसने राजकुमार होते हुए चित्तौड़ में रहकर राजकीय सम्मान एवं सुख का पूरी तरह उपभोग नहीं किया। पर्वतीय इलाके में मेवाड़ राज्य की शक्ति को संगठित एवं व्यवस्थित करने के कार्य में कुंवर प्रताप ने निश्चय ही अनुभव एवं दक्षता हासिल की। इस काल में उसने पर्वतीय इलाके में न केवल चौहानों, राठोड़ों एवं डूंगरपुर-बांसवाड़ा के सिसोदिया राजपूतों से युद्ध किये, बल्कि इस इलाके के मूल निवासी भील लोगों से उसने मेल भी स्थापित किया। भीलों से संधि करने से दो लाभ हुए। एक तो अन्य राजपूतों को आधीन करना आसान होगया, दूसरा उनकी शक्ति और उनके लड़ने के पहाड़ी छापामार तरीके मेवाड़ की शक्ति को दृढ़ करने और बाहरी आक्रमणों से रक्षा में अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुए। इसी काल में प्रताप ने सम्पूर्ण अरावली के दुर्गम स्थलों, सुरक्षित स्थानों एव विभिन्न मार्गों की जानकारी प्राप्त की।

कीका

तत्कालीन फारसी इतिहास लेखकों ने अपने ग्रंथों[2] में महाराणा प्रताप का 'कीका' नाम से उल्लेख किया है। मुस्लिम लेखकों को यह नाम निश्चय ही अन्य मुगल दरबारी राजपूतों अथवा चारणों आदि से सुनने को मिला होगा, जिससे यह प्रकट होता है कि 'कीका' नाम प्रताप का जन-प्रिय नाम रहा। कीका का अर्थ होता है-पुत्र। यह शब्द मेवाड़ के पर्वतीय भागों एवं भील लोगों में इसी अर्थ मे प्रयुक्त होता है। प्रताप के लिये 'कीका' नाम का प्रचलन उसके कुंवर काल में ही भील लोगों में प्रिय होने और पर्वतीय इलाके मे उसके प्रभाव का सूचक है। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि मुगल विरोधी संघर्ष मे प्रताप की सफलता का एक बड़ा कारण पर्वतीय भीलों की अटूट मैत्री एवं वफादारी रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि प्रताप को राज्याधिकार प्राप्ति के पूर्व ही आनेवाले संघर्षों एव कठिन तपस्या के लिए पूरा अनुभव तथा प्रशिक्षण प्राप्त हो गया था।

—२६. पंचवटी, उदयपुर

१ अमरकाव्यम्, हस्तलिखित, प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर।

२ अबुलफज्ल लिखित अकबरनामा, निजामुद्दीन अहमद लिखित तबकात-ए-अकबरी, बदाऊनी लिखित मुंतखाब-उत-तवारीख, मुतामिद खां लिखित इकबालनामा।

विमर्श

श्रमण-परंपरा का मन्दिर या हारीतराशि की गुफा ?

मेवाड़ भूमि का अपने शौर्य एवं त्याग के फलस्वरूप भारतीय प्रदेशों में एक विशिष्ट स्थान रहा है। यहाँ के गुहिल वंश में शासकों ने सदैव ही अपने प्राणों की परवाह न कर मातृभूमि के स्वार्थ अपना सर्वस्व बलिदान किया। इसी वंश में बापा रावल ने जन्म लिया था, जिनके गुरु हारीतराशि थे। हारीतराशि लकुलीश सम्प्रदाय के साधु थे। लकुलीश या लकुटीश की गणना शिवजी के अठारह अवतारों में मानी गई है। प्राचीन काल में पाशुपत (शैव) सम्प्रदायों में लकुलीश सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध था। आज तक राजस्थान, गुजरात, मालवा, उड़ीसा, दक्षिण भारत आदि में लकुलीश की मूर्तियां पाई जाती हैं।[1]

लकुलीश की मूर्ति के सिर पर जैन मूर्ति के समान ही केश होते हैं, जिससे उसे कोई जैन मूर्ति मान लेते हैं। लेकिन वह जैन मूर्ति न होकर शिवावतार की मूर्ति ही होती है। ये मूर्तियां प्रायः द्विभुज होती हैं। बाएँ हाथ में लकुट (दण्ड) रहता है, जिसके कारण इसका लकुलीश या लकुटीश नाम पड़ा[2]। दाहिने हाथ में बिजौरा नामक फल होता है। मूर्ति पद्मासनस्थित होती है और किसी-किसी में नीचे नन्दी या कहीं-कहीं दोनों ओर एक जटाधारी साधु भी बना मिलता है। इसका चिह्न (ऊर्ध्वलिंग) मूर्ति पर स्पष्ट होता है[3]।

---

१ भारतीय मूर्ति कला में लकुलीश की मूर्तियों के विवरण हेतु द्र० आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट, १९०६–१९०७, पृ० १८४–८८।

२ न (ल) कुलीशं ऊर्ध्वमेढ्रं पद्मासनसुसंस्थितम्।
दक्षिणे मातुलिंग, च वामे दण्डं प्रकीर्तितम्—(विश्वकर्मावतार-वास्तुशास्त्र)।

३ ओझा, सिरोही राज्य का इतिहास, पृ० ३६ (पाद टिप्पणी)।

एकलिंगजी (कैलाशपुरी) के नाथ-मन्दिर के वि० सं० १०२८ वाली प्रशस्ति से इस ओर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। श्री एकलिंग-मन्दिर के निकट पहाड़ी पर लकुलीश-मन्दिर है, जो इस समय 'नाथों का मन्दिर नाम' से प्रसिद्ध है। प्रशस्ति में विषयवस्तु इस प्रकार है[1]:— 'ॐ नमो लकुलीशाय' इस तरह लकुलीश को नमस्कार किया गया है। प्रथम द्वितीय श्लोक में देवता और देवी (सरस्वती) की प्रार्थना है। तृतीय चतुर्थ श्लोक में नागह्रद (नागदा) का वर्णन है। पंचम में बापा को गुहिलवंश का चन्द्रवत् तेजस्वी राजा कहा गया है और उसमें धनुष के टंकार का वर्णन है। षष्ठ-अष्टम श्लोकों में इस वंश के नरेशों की वीरता का वर्णन है। नवम से द्वादश तक लकुलीश की उत्पत्ति का एवं स्त्री (पार्वती) के आभूषणों का वर्णन है। त्रयोदश श्लोक में शरीर पर भस्म लगाने, वल्कल रूपी वस्त्र, जटाजूट धारण करने और पाशुपत योग का साधन करनेवाले कुशिक योगियों का (जो कि लकुलीश के मुख्य शिष्य थे) का वर्णन मिलता है। पश्चात एकलिंगजी के मन्दिर की पूजा करनेवाले उक्त सम्प्रदाय के साधु-सन्तों का परिचय दिया गया है। इस प्रकार के इतिवृत्त से यह निर्विवाद सिद्ध है कि एकलिंगजी (कैलाशपुरी) लकुलीश पाशुपत (शैव) मतानुयायी सम्प्रदाय के साधु सन्तों का केन्द्र रहा है। ये साधु अपनी योग-साधना पर्वतों की कन्दरा-गुफाओं में किया करते थे। हारीतराशि की गुफा भी आजतक एकलिंग महादेव के एक ओर के पर्वत में विद्यमान है। गुफा के सम्मुख ही विंध्यवासिनी माता का मन्दिर है।

मासिक पत्रिका 'मधुमती' मई १९६६ के अंक में 'भर्तृहरि की गुफा' नामक एक लेख मुनि श्री कान्तिसागर का प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने हारीतराशि की गुफा को श्रमण-परम्परा का मन्दिर होना बतलाया है। समझ में नहीं आता कि एकलिंगजी के इतिहास में कब से इस श्रमण-परम्परा का अविर्भाव हुआ और श्रमण संन्यासी यहाँ तपोरत रहे? यदि मुनिजी स्वल्प भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की ओर ध्यान देते तो यह बात ही उपस्थित नहीं होती। प्रथम तो यह सर्वविदित है कि जैन साधुओं ने अपनी उपासना का स्थल कभी किसी गुफा को नहीं चुना। अब तक यह प्रमाण नहीं मिलता है कि किसी भी जैन साधु ने अपनी उपासना का स्थान गुफा रखा हो। गुफाएं तो हमेशा से ही भारतीय संस्कृति के प्रतीक ऋषि-मुनियों की साधना का स्थान रही हैं।

---

१ ओझा-निबन्ध-संग्रह, प्रथम भाग, पृ० १८५।

मुनिजी ने अपने लेख मे इस बात को माना है कि भर्तृहरि का विशेष आकर्षण शिव के प्रति था और उनके साहित्य में शिव सबंधी विपुल प्रसग दृष्टिगोचर होते हैं, एव यह कि भर्तृहरि गोरखनाथ से दीक्षा अगीकार कर नाथमत में सम्मिलित हो गये थे, जो योग मत नाम से विख्यात रहा, इसलिये यह सभव है कि एकलिंगजी मे इनके स्मारक स्वरूप गुफा स्थापित की गई हो। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि श्री एकलिंगजी के पुरातन अर्चक पाशुपत और योग साधना मे विश्वास करते थे। इतनी बात स्पष्ट होते हुए भी मुनि श्री कान्तिसागर इस बात को स्वीकार नहीं करते कि प्राचीनकाल से श्री एकलिंगजी का स्थान पाशुपत (शव) मतावलम्बियों का ही रहा। इसी पाशुपत धर्म के उपासक, एकलिंगजी के प्रमुख सेवक, "हारीतराशि" यहां हुए।[1] एकमात्र यह गुफा उनकी योगसाधना की स्मृति चिरस्थायी बनाये हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुरातन समय से यह स्थान शैव धर्म का एक प्रधान केन्द्र रहा है। तभी तो इस धम के अनुयायी भर्तृहरि ने भी यहां आकर निवास किया और उनके नाम से यह किवदन्ती प्रचलित हुई। मुनिजी ने अपने 'भर्तृहरि की गुफा' शीर्षक लेख में न तो इसको भर्तृहरि की गुफा माना है और न इस सम्बन्ध में वे प्राचीन तपोनिष्ठ हारीतराशि के इतिवृत्त को स्मृति पथ में लाये हैं। न जाने क्यों उन्हें निर्मूल तृतीय कल्पना का आश्रय लेकर उसे श्रमण परम्परा का मन्दिर कहना अधिक उपयुक्त जान पड़ा? यदि मुनिजी के कथनानुसार यहा जैन मूर्तियों का होना माना जाये तो भी इससे हमारे सिद्धान्त में कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता। प्राय प्राचीन समय मे जहां कहीं नवीन मन्दिरो का निर्माण होता तो उन प्राचीन मन्दिरों के खण्डहरों से जो उपकरण उपलब्ध होते उनका उपयोग नव निर्माण के समय कर लेते थे। जसे आहाड के "वराह मन्दिर का छबणा" सारनाथ (सान्नाथ) के मन्दिर मे लगाया गया, जिसके शिलालेख मे वराह मन्दिर का उल्लेख है। मुनिजी के मतानुसार भूमिस्थ मन्दिर का जो निर्माण किया गया, उसमे सभवत जन मन्दिरों के खण्डहरों के स्तम्भ उपयुक्त समझकर लगा दिये गये हों किन्तु इससे प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त दृष्टि से ओझल नहीं हो सकता और न होना चाहिए।

---

१ हारीतराशिनामा भूयास्त्व मेदपाटमुनि। देखिये—महाराणा कुम्भकर्ण के समय का बना एकलिंग माहात्म्य, अध्याय १, श्लोक २२।

गुफा के प्रवेश द्वारा के निम्न स्थान पर दोनों ओर यक्ष-यक्षिणी की मूर्तियां खनित हैं। ये भी इसी बात की द्योतक हैं कि भारतीय संस्कृति में शिल्पशास्त्रानुसार प्राचीन देवालयों में यक्ष-किन्नरों की प्रतिमाएँ खनित होती रही हैं। ऊपर प्रवेश द्वार के अन्दर की ओर इतर द्वार पर गणेश की प्रतिमा स्पष्ट परिलक्षित होती है। गणेश या विनायक की स्थापना भारतीय सांस्कृतिक कार्यों में प्रथम रही है।

जहां तक मुनिजी के पार्श्वनाथ के मन्दिर की कल्पना का प्रश्न है, इतना अवश्य है कि एकलिंगजी (कैलाशपुरी) के समीपवर्ती नागदा स्थल में, जिसे संस्कृत में नागह्रद कहा गया है और जो प्राचीन समय में मेवाड़ की राजधानी रहा, राज्याश्रय में रहकर जैनियों ने अपने धर्मानुकूल जिन-प्रतिमा और मन्दिरों का निर्माण कराया था। एक विशाल, कृष्णकाय, आकर्षक जिन-प्रतिमा नागदा के एक मन्दिर में अब भी स्थापित है, जिसे अद्भुतजी के नाम से सम्बोधित किया जाता है। नागदा में इस प्रकार के मन्दिर जैन संस्कृति के ध्वसावशेष के रूप में दृष्टिगत होते हैं। लेकिन इस तथ्य से हमारी मान्यता में कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता।

अन्त में मैं तो अपने प्रस्तुत विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त समझता हूं कि जैसा कि लकुलीश और जैन मूर्तियों की वेश-भूषा का विवरण ऊपर दिया गया है, कहीं भ्रम से लकुलीश' [जिन-मूर्ति] की वेश-भूषा के साम्य पर जैन मूर्ति मानकर सम्बन्धित गुफा को श्रमण-परम्परा का मन्दिर न समझ लिया गया हो। अन्यथा वास्तविक तथ्यों से भटक जाने का सन्देह है।

इन दिनों एकलिंग (कैलाश पुरी) में हारीतराशि की गुफा के स्थानों को बिल्कुल बन्द कर दिया गया है। आगे के दो कमरों को भी चूने-आराल से पोत कर ठीक कर दिया है। हिंसक जानवरों के भय से गुफा को बन्द कर आगे के भाग का जीर्णोद्धार कर देना समुचित ही जाना पड़ा।

वहां हारीतराशि के स्मृति-चिन्ह हेतु एक प्रस्तर-प्रतिमा भी विद्यमान है। उपर्युक्त विवरण के अनुसार निर्विवाद सिद्ध है कि बापा के गुरु 'हारीतराशि' ने इस गुफा को अपनी एकान्त योग साधना का स्थल रखा। तब से यह 'हारीतराशि की गुफा' के नाम से ही आज तक विख्यात है और भविष्य में भी उस भारतीय संस्कृति के प्रतीक 'मुनि हारीतराशि' के नाम को अमर करती रहेगी।

—चन्द्रशेखर शास्त्री एम० ए०, बी० एड०, साहित्यरत्न
पचवटी, उदयपुर

राजस्थान की साहित्यिक–सांस्कृतिक चेतना के विकास की समस्याएँ

राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा उदयपुर में अकादमी की सरस्वती–सभा की बैठक के अवसर पर दिनांक १५–१६ जून को द्विदिवसीय सेमीनार का आयोजन किया गया। विषय था —राजस्थान की साहित्यिक–सांस्कृतिक चेतना के विकास की समस्याएँ।

सेमीनार का विषय इस बात का सूचक है कि अकादमी अपने प्रयोजन एवं कर्तव्यों के प्रति जागरूक है और राजस्थान के जन-मानस के सांस्कृतिक धरातल को ऊँचा उठाने के लिये प्रयत्नशील है। किन्तु विषय–चर्चा को प्रारम्भ करने की दृष्टि से जो संयोजकीय वक्तव्य प्रस्तुत किया गया और चर्चा के जो बिन्दु निश्चित किये गये, उनसे विषय की व्यापकता सिमिटकर संकुचित हो गई और मोटे तौर पर चर्चा का विषय रह गया – राजस्थान के साहित्यकार की आर्थिक समस्याएँ और राज्य का कर्तव्य। यद्यपि चर्चा में भाग लेनेवाले साहित्यकार इस परिधि में बंधे नहीं रहे, फिर भी यह कहा जा सकता है कि समस्याओं की चर्चा को राजस्थान की वर्तमान सामाजिक–सांस्कृतिक परिस्थितियों, विश्वासों, मूल्यों एवं मान्यताओं के सामंती–साम्राज्यी अवशिष्टों के दुष्प्रभाव चेतना, परिवर्तन एवं विकास के अवरोधों तथा सद्यप्रसूत नवीन प्रजातांत्रिक विश्वासों एवं मूल्यों के स्वरूपों एवं उनकी समस्याओं के मौलिक सवालों से नहीं छुआ जा सका।

चर्चा में कुछ सवाल उठाये गये। साहित्य का मूल्यांकन एवं प्रकाशन, साहित्यकार की प्रतिष्ठा, साहित्यकार की आर्थिक सुरक्षा, साहित्यकार के प्रति राज्य का उत्तरदायित्व आदि। चर्चा में इस बात पर जोर दिया गया कि अकादमी द्वारा राजस्थान के साहित्यकारों एवं उनके साहित्य का सही मूल्यांकन करना बहुत आवश्यक है, जो उत्तम साहित्य के प्रोत्साहन, प्रकाशन की दृष्टि से जरूरी है। अकादमी द्वारा साहित्यकारों को सहायतार्थ दी जानेवाली वृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ इस तरह का सुझाव भी दिया गया

कि योग्यता एवं आवश्यकता के आधार पर ऐसी सहायता भले कुछ को ही दी जाय, किन्तु इतनी दी जाय कि वे पूरा समय साहित्य-सर्जन मे लगा सकें।

सर्वाधिक चर्चा साहित्यकार के सम्मान एव राज्याश्रय के सवालों पर हुई। दो मत प्रकट किये गये। साहित्यकार का आत्मसम्मान एवं स्वतंत्रता मूल बात है। साहित्यकार आत्मसम्मान के लिये चिल्लायें नहीं, अपने सम्मान के लिये दूसरों का मुंह न ताकें, बल्कि अपनी सृजनशीलता से उसको प्रतिष्ठित करें। राज्याश्रय-प्राप्ति के लिये दौड़ लगाना वर्तमान पीढ़ी के साहित्यकारों के लिये अहितकर एवं त्याज्य है, ऐसी स्थिति उनको उनके मौलिक कर्त्तव्यों से च्युत कर देगी और सांस्कृतिक चेतना एवं क्रांति के प्रति उनके उत्तरदायित्व को पूरा करने की दृष्टि से उन्हें अयोग्य बना देगी। उनका सृजन कुंठित हो जायगा, नवीन के आगम का स्वागत करने एवं उसको प्रतिष्ठापित करने की जगह उनका सामर्थ्य सड़ी-गली एवं मरणासन्न मान्यताओं एव मूल्यों की सेवा में ही सड़ने-गलने लगेगा। इस दृष्टि से 'जनाश्रय' प्राप्ति का पक्ष लिया गया। यह था एक मत।

लोकतंत्र में सांस्कृतिक उत्थान का दायित्व राज्य को वहन करना पड़ता है। वह आर्थिक स्वावलम्बन प्रदान करनेवाली नीतियों व साहित्यकार को समुचित प्रतिष्ठा देने वाले राजनीतिक वातावरण के द्वारा साहित्यकार को निरन्तर सृजन के लिये प्रेरित कर सकता है। शासन द्वारा साहित्यकार का सम्मान समाज में सांस्कृतिक मूल्यों को बल प्रदान करता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह साहित्यकार को सक्षम करे, प्रोत्साहन और सम्बल दे। यह दूसरा मत रहा।

परिचर्चा में राजस्थान के लगभग सभी भागों से आये विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। परिचर्चा की अध्यक्षता राजस्थान साहित्य अकादमी के अध्यक्ष पद्मभूषण श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने की।

—सम्पादक

समीक्षा

रामचरितमानस का तत्त्व-दर्शन

लेखक—डा० श्रीशकुमार

प्रकाशक—लोक चेतना प्रकाशन, जबलपुर। प्रथम संस्करण, १९६६, मूल्य १० रुपये, पृष्ठ १९२।

प्रस्तुत ग्रन्थ जबलपुर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत डा० श्रीशकुमार का पी० एच डी का शोध-प्रबन्ध है। तुलसी के काव्य का मन्थन अनेक दृष्टियों से किया जा चुका है। उनके महाकाव्य 'रामचरितमानस' की डा० श्रीशकुमार ने तत्त्व दर्शन की दृष्टि से विवेचना की है। ग्रन्थ विषय-प्रवेश, ब्रह्म, माया, जीव तथा मोक्ष और मोक्ष-साधन नामक ५ अध्यायों मे विभक्त है। प्रथम अध्याय में लेखक ने दर्शन, काव्य और दर्शन, आत्म और परमात्म तत्त्व, तथा तुलसी के तत्त्व-दर्शन पर संक्षेप में विचार किया है और उनके 'मायावाद' को शंकराचार्य के 'मायावाद' की प्रतिकृति सिद्ध किया है। द्वितीय अध्याय में राम को परम ब्रह्म सिद्ध करके उनके परम वेद्य और सच्चिदानंद स्वरूप की व्याख्या की गई है तथा ब्रह्म के स्वयं-प्रकाशत्व एवं स्वयं-सिद्धत्व की राम के चरित्र में प्रतिष्ठा दिखाई गई है। लेखक ने विद्वत्ता पूर्ण शैली मे शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के रूप मे रामचरितमानस के राम को सिद्ध करते हुए अनेक मौलिक तथ्य प्रस्तुत किए हैं।

अन्य अध्यायों में माया जीव, मोक्ष आदि के संदर्भ मे रामचरितमानस में व्यक्त किए गए तुलसी के विचारों को गंभीर अध्ययन के परिणाम-स्वरूप पर्याप्त सुलझे हुए एवं तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। विवेचन पाण्डित्य-पूर्ण है और विषय को गहराई में जानेवाली भाषा प्रयुक्त हुई है।

किन्तु, खटकने वाली बात यह है कि लेखक ने अधिकांशत अपने विवेचन के निष्कर्ष शोध-प्रबन्ध की पद्धति पर किसी भी अध्याय के अन्त में प्रस्तुत नहीं किए

हैं। सर्वत्र तुलनात्मक समालोचना की प्रौढ़ शैली अपनाई गई है और तदनुकूल स्व-मत-प्रतिपादन का आग्रह आ गया है। फलतः शोध की वस्तु-परक दृष्टि धूमिल हो गई है और इसीलिए लेखक यह बताना भूल गया है कि उसके शोध-कार्य की उपसंहारात्मक उपलब्धियाँ क्या है? यह ठीक है कि वे उपलब्धियाँ ग्रन्थ में विवेचन के साथ-साथ प्रकट होती गई हैं, किन्तु उन्हें समस्त विवेचन के फल स्वरूप अन्त में आकलित नहीं किया गया। तथापि, लेखक का प्रयास स्तुत्य है और उससे तुलसी साहित्य के अध्ययन की सीमा का विस्तार हुआ है।

—डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'